गीता-वाहिनी

भगवान श्री सत्यसाई बाबा

Published under arrangements with and at
Sri Sathya Sai Books & Publications Trust, Prashant
Distt. Anantapur, A P. 515134

अनुवादक:
उमा चंदावरकर

मुद्रक : कवलकिशोर एण्ड कम्पनी नई दिल्ली-५

अभिवादन

भगवान् श्री सत्य साई बाबा ही वे सनातन सारथी हैं, जिन्होंने सूर्य को गीता शास्त्र का उपदेश दिया और मनु व राजा इक्ष्वाकु को इसे समझाया; कुरुक्षेत्र में होने वाले दैवी और आसुरी शक्तियों के महायुद्ध में वे अर्जुन के सारथी थे । युद्ध की अनिवार्यता देखकर, रथ में सवार अर्जुन जब दु:खी और व्याकुल हो गया, तब कृष्ण ने उसे सबमें एकात्मक भाव का अनुभव करने की शिक्षा देकर उसका शोक और भय मिटा दिया ।

आज भी वे हम सब के सारथी हैं । आपके दु:ख के साथी और एक गुरुभाई के रूप में मैं आपका अभिवादन करता हूँ । हमें यही मानना है कि वे अपने हाथ में विवेक बुद्धि की बागडोर पकड़े हुए, विरक्ति के चाबुक को घुमाते हुए, इन्द्रियों के अश्वों को सत्य के मार्ग पर, जिसे धर्म से पक्का और सामग्री से सज्जित, प्रेम से प्रकाशित किया गया है, शांति के लक्ष्य की ओर लिये जा रहे हैं ।

हम अर्जुन की तरह उनके इसी रूप को अपने हृदय में प्रतिष्ठित करें । जब संसार में आसक्ति कर्त्तव्य पथ से विचलित करने वाली और बाधक बन रही हो, जब महत्वाकांक्षा के कारण सहानुभूति की आँखों में धुंध छायी हो, घृणा के कारण प्रेम की पुकार न सुनाई देती हो, तब हमें गीता सुननी चाहिये । जिस रथ पर भगवान् प्रतिष्ठित होते हैं, वहीं वे उपदेश देते हैं; इस प्रकार अपना अनुग्रह, दर्शन और शक्ति प्रदान करते हैं । वह हमें साहसी, योद्धा और विजयी होने योग्य बनाते हैं ।

यह अमूल्य पुस्तक कुरुक्षेत्र के युद्धक्षेत्र में दिये गए उपदेश की टीका या सारांश नहीं है । हम जिस युद्ध में हैं उसमें विजयी होने के लिए जिस ज्ञान को भगवान् हमें प्रदान करने को इच्छुक हैं, उसे समझने के लिए किसी नई भाषा को सीखने या प्राचीन ग्रंथ का अध्ययन करना हमारे लिए आवश्यक नहीं है । यह गीता-वाहिनी वही पुनर्जीवनदायिनी और स्फूर्तिदायिनी सरिता है जिसे उसी दिव्य प्राणदाता ने आधुनिक द्वन्द, विज्ञान के गर्व एवं कृत्रिमता की आलोचना की सनक के जाल में उलझे मनुष्य को बचाने और उसे स्फूर्ति और शक्ति देने हेतु पुन: प्रकट किया है । ये उपदेश शांति और सान्त्वना देकर शक्ति व निष्ठा प्रदान करेंगे ।

आओ भगवान् के इन शब्दों को हम उतनी ही एकाग्रता से सुनें जितनी

एकाग्रता से अर्जुन ने उन्हें युद्धक्षेत्र के कोलाहल में सुना । पुस्तक की समाप्ति पर हम भी कहेंगे कि "मेरा भ्रम दूर हो गया; मेरा सत्यस्वरूप जो कि परमात्मा है, उसका मुझे ज्ञान हो गया ।"

सबमें विराजमान सनातन सारथी ने संतप्त हृदयों की पुकार को सुना है ; प्रशांति निलयम् से प्रकाशित 'सनातन सारथी' में उन्होंने ये उपदेश प्रकट किए हैं ; और वे सब अब इस पुस्तकाकार में आपके सामने प्रस्तुत हैं, इन्हें आप जी भर कर पढ़ें और मनन करें ।

जिस निष्ठा से आप इस पुस्तक के पृष्ठों को पढ़ेंगे आपकी वह निष्ठा दिन प्रतिदिन बढ़े ; अनेकता के आधार में व्याप्त एकता की सर्वोपरि महत्ता की इस पुस्तक द्वारा अनुभूति कराने वाले सदा विस्तृत होने वाले ज्ञान के दिव्य दर्शन से आपका मार्ग-दर्शन हो ।

गोकुलाष्टमी
८-९-१९६६

न. कस्तूरी
संपादक : सनातन सारथी

गीता भारत भूमि पर निर्मित, सत्य और धर्म का भव्य भवन है जो समस्त मानवता के कल्याण के लिए है । इसका अध्ययन निष्ठा और भक्ति से करो । व्यवहार में उतारने पर इसकी शिक्षाओं के स्वास्थ्य-प्रद और पोषक प्रभाव का अनुभव स्वयं होगा । हृदय में आत्माराम की वास्तविक अनुभूति होगी ।

गीता - वाहिनी
प्रथम अध्याय

गीता के अर्थ को समझने के लिए श्रद्धाभाव का होना आवश्यक है । इसका अध्ययन समर्पण और उत्कट इच्छा की भावना से करना चाहिए क्योंकि गीता उपनिषदों का 'दुग्ध' है जिसे कृष्ण ने वत्स अर्जुन की सहायता से दुहा है, जिसका उद्देश्य समस्त मंद बुद्धि वालों को गीता रूपी दुग्ध पिलाकर सहारा देना है । कुछ लोगों का तर्क है कि गीता का पवित्र काव्य महाभारत लिखे जाने के पश्चात् लिखा गया और उसी का एक भाग है । गीता की साहित्यिक रचना के बारे में चाहे कुछ भी कहा जाये, उसके सिद्धान्त और उपदेश प्राचीन ही नहीं, कालातीत हैं । इसमें कोई संदेह नहीं । चौथे अध्याय के पहिले तीन श्लोकों में ऐसा उल्लेख है कि भगवान् ने गीता का सर्वप्रथम उपदेश सूर्य को दिया । सूर्य से मनु को, मनु से इक्ष्वाकु और फिर परम्परानुसार औरों को प्राप्त हुआ । इसीलिए यह कालातीत है । गीता की रचना भूतकाल या वर्तमान काल के किसी अमुक निश्चित काल में हुई, ऐसा नहीं कहा जा सकता ।

आध्यात्मिक साधकों के लिए गीता आधारभूत अध्ययन ग्रंथ है क्योंकि इसमें किसी अन्य विषय की अपेक्षा साधना और आध्यात्मिक स्थितियों को ही अधिक महत्व दिया गया है । प्रत्येक अध्याय में शान्ति और ऐक्य पाने की विधि और साधन बताये गये हैं । उन्नति के लिए तीव्र और दृढ़ आकांक्षा का परिणाम साधना है । साधक में उत्कट इच्छा होनी चाहिए, निराशा नहीं; उसमें धैर्य होना चाहिए और उसे सफलता पाने की शीघ्रता नहीं करनी चाहिए । स्वेच्छापूर्वक अपनायी गयी बंधन की स्थिति से व्यथित को, गीता रूपी नौका भवसागर से पार करा कर मुक्त करती है । बंधन मुक्तता, मनुष्य का स्वभाव है । गीता उसे अन्धकार से प्रकाश में, मलिनता से तेजस्विता की ओर ले जाती है । वह मनुष्य के लिए ऐसे अनुशासन और कर्तव्य बताती है जो जन्म-मरण के क्रूर चक्र से बाधने वाली वासना (भावना और प्रवृत्तियों) के दोष से मुक्त होते हैं ।

यथार्थ में तो मनुष्य इस कर्म-क्षेत्र में केवल कार्य करने आता है, उन कार्यों का फल प्राप्त करने नहीं । गीता की शिक्षा का मुख्य उपदेश यही है । गीता सब

वेदों के अर्थ का सार है । वेदों के पूर्व भाग में यज्ञ और यजन इन बाह्य कर्मों का उल्लेख है; उपासना जैसी मानसिक अन्तरवर्ती क्रियाओं का उल्लेख बाद में आता है, इस प्रकार एक शुद्ध और सुलझे हुए मन को ज्ञान योग समझाया गया है ।

कैसा भी कोई व्यक्ति हो, कितना भी अपूर्व विद्वान हो, भ्रम से बच नहीं सकता इसलिए वह शोक-ग्रस्त होता है और उसके सब कार्य रुक जाते हैं । अर्जुन, जो कि एक महान् पराक्रमी योद्धा था, महान् त्याग की जिसमें क्षमता थी, और जो अपूर्व ज्ञानी था, युद्ध की अनिवार्यता को देखकर भ्रमित हो जाता है और शोकाकुल होने से उसके सब कार्य रुक जाते हैं । वह स्वयं को शरीर समझ भ्रम में उलझ गया, और दोनों को एक समझने लगा । आत्मा पर (जिसको संसार के अनित्य व परिवर्तनशील गुण स्पर्श भी नहीं कर सकते) वह असत्यता और क्षणभंगुरता के गुणों का अध्यारोपण करने लगा । ऐसे भ्रम को वह सत्य समझकर ऐसी असत्य धारणा के परिणामस्वरूप किए गये अपने कार्यों को वह कर्त्तव्य और आत्म-धर्म समझ बैठा । यह करुण-कथा अर्जुन की ही नहीं, मानव-मात्र की है । इसलिए गीता का महत्व सर्वव्यापक और स्थायी है । गीता का अध्ययन करना भ्रम के सागर को पार करने की कला प्राप्त करना है । यह भगवान् कृष्ण की साक्षात् वाणी है । करोड़ों लोगों को इससे सात्वना और मुक्ति मिली है । यही इसकी दिव्य उत्पत्ति-स्थान का प्रमाण है । अल्प दिव्यता वाले किसी भी महापुरुष द्वारा गीता का उपदेश दिया गया होता तो इसकी दिव्यता इस प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाणित न होती ।

गीता के आरम्भ और अन्त से ही उसके विषय की व्याख्या के बारे में स्पष्ट पता चल जाता है । प्रथम श्लोक 'धर्मक्षेत्रे, कुरुक्षेत्रे''' ' में प्रथम शब्द धर्म ही है । अठारहवें और अन्तिम अध्याय का अन्तिम श्लोक "यत्र योगेश्वरः कृष्णो" है और 'योगेश्वर' शब्द, इसमें निहित धर्म की शिक्षा का सार है । इससे यह स्पष्ट होता है कि गीता की शिक्षा का लक्ष्य यही है : "धर्म को याद रखो; उसका अभ्यास करो ।" कितना महत्वपूर्ण है यह शब्द ! सब शास्त्र धर्म के सूक्ष्म गुणों का विभाजन और व्याख्या करते हैं । गीता में धर्म का ऐसा अध्ययन और विश्लेषण धर्म के सब सिद्धान्तों की व्याख्या सहित प्रस्तुत किए गए हैं ।

अर्जुन जीव है, व्यक्ति है । शरीर रथ है और रथ में बैठे कृष्ण भगवान् गुरु

हैं । साक्षात् भगवान् सारथी हैं; मनुष्य की गायत्री मंत्र रूपी प्रार्थना 'धियो यो न प्रचोदयात्' (हे भगवान् ! मेरी विवेक बुद्धि जागृत करो; मुझे मार्ग दिखाओ) का (गीता द्वारा) उत्तर देने वाले, बुद्धि का संचालन करने वाले, उसके प्रेरक ब्रह्म हैं । कौरव आसुरी प्रवृत्ति के प्रतिनिधि हैं; पांडव दैवी शक्ति के प्रतिनिधि हैं । एक असद् है तो दूसरी सद् है । एक बुरी है तो दूसरी अच्छी है । और इन दोनों परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों में संघर्ष रहता है । इनके संघर्ष में कृष्ण (जो स्वयं आत्मा है) सदा धर्म की ओर, आधारभूत सत्य की ओर रहते हैं, न कि पतन की ओर ले जाने वाले भ्रम की ओर । यदि तुम भगवान् को अपने पक्ष में रखना चाहते हो तो दैवी संपद, धर्म के गुणों को धारण करो, क्योंकि जहाँ धर्म है वहीं भगवान् हैं ।

इसका अर्थ यह नहीं कि भगवान् सर्वव्यापक नहीं . . . ! जिस प्रकार दूध में मक्खन व्याप्त है और उसका दही जमाकर जहाँ मथोगे वहीं से मक्खन निकलता है, उसी प्रकार जहाँ भी धर्म-साधना होगी वहीं भगवान् की प्राप्ति होगी । "यतो धर्मस्ततो जयः;" जहाँ धर्म है वहाँ जय है । अर्जुन शारीरिक दृष्टिकोण में डूबा हुआ था, इसलिए उसे आध्यात्मिक ज्ञान देना आवश्यक था । आत्म-जागृति और उस आत्म-तत्व पर ध्यान दृढ़ करना ही साधना का गुण है । यही कृष्ण की शिक्षा है, यथार्थ में सत्य की खोज का यही सार व तत्व है ।

अर्जुन अनेक प्रकार के संदेहों में उलझ गया था, और उन्हें व्यक्त भी नहीं कर पा रहा था । तब कृष्ण ने उसे समझाया, "अर्जुन तुम यह सोच कर दुःखी हो रहे हो कि यह सब राजा और राजकुमार जो तुम्हारे सम्बन्धी हैं, तुम्हारे हाथों शीघ्र ही मरने वाले हैं । तुम धर्म की बातें बनाने में चतुर हो, लेकिन याद रखो, बुद्धिमान लोग न जीवितों के लिए और न मरे हुओं के लिए शोक करते हैं । मैं तुम्हें बताऊँ, क्यों ? तुम तो शरीर के लिए शोक करते हो; मरने पर केवल वही नष्ट होता है । शरीर की प्रत्येक बदलती अवस्था पर क्या तुमने शोक किया ? नन्हाँ बालक किशोर बना, किशोर युवक, युवक प्रौढ़ अवस्था को प्राप्त हुआ, प्रौढ़ वृद्ध हुआ, वृद्ध होकर मृत्यु में विलीन हो गया । शरीर इतनी बार परिवर्तित हुआ, लेकिन तुमने तब शोक नहीं किया, फिर इस परिवर्तन के लिए अब क्यों रोते हो ? क्या आज भी तुम्हारा वैसा ही शरीर है जैसा बचपन में था ? धृष्टद्युम्न को बांधते समय तुम्हारा जो शरीर था वह कहाँ गया ? बचपन का वह पराक्रम तुम्हें अभी भी याद है; लेकिन

यह शरीर जिसने यह पराक्रम दिखाया, अब वैसा नहीं रहा ! इसलिए तुम्हारा शरीर कितना भी बदल जाये, आत्मा और सच्चे ज्ञान की महत्ता अमर रहती है । ऐसे ज्ञान में दृढ़ता-पूर्वक प्रतिष्ठित होना ही ज्ञानी के लक्षण हैं !" कृष्ण बोले ।

तुम मुझसे पूछोगे कि जिन शरीरों के साथ इतने वर्ष काटे और जीवन बिताया वह इस प्रकार दृष्टि से ओझल हो जाए तो क्या दुःख नहीं होगा ? यदि इस प्रकार शोक करना उचित माना भी जाये तो कितने शरीरों के लिए तुम्हें शोक करना होगा ? इस पर तुमने कभी सोचा ? हर्ष और शोक, रात और दिन की तरह हैं, उन्हें सहना ही होगा, उनको पार करना ही होगा । तुम न चाहो तब भी उनका होना रुकेगा नहीं और यदि तुम इच्छा करोगे तो भी फिर से वह घटित नहीं होंगे ! इनके होने न होने का सम्बन्ध स्थूल शरीर से है । आत्मा पर उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ता । जिस क्षण तुम हर्ष और शोक के बंधनों से छूटोगे, उसी क्षण मुक्त हो जाओगे ।

इस सत्य की शिक्षा देने वाले प्रथम उपदेश को 'अर्जुन-विषाद-योग' कहा गया है । भगवद्गीता के भवन की यही नींव है । जब नींव दृढ़ होती है तो भवन भी दृढ़ होता है । पाँच हजार वर्ष से इस नींव पर गीता अचल है और अडिग खड़ी है । इससे तुम्हें अनुमान होगा कि जिस नींव पर गीता प्रतिष्ठित है वह कितनी सुदृढ़ है और ऐसी नींव बनाने वाला स्वयम् कितना बुद्धिमान होगा ।

तुमने इसे 'विषाद' कहा है लेकिन वह विषाद बहुत लाभदायक था; यह कोई साधारण "साहसहीनता" की बात नहीं थी । क्योंकि इसके द्वारा अर्जुन की निष्ठा और दृढ़ता की परीक्षा हुई; इसी के कारण उसने अनन्य भाव से भगवान् की शरण ली । इसीलिए इस 'विषाद' को योग कहलाने का गौरव-पूर्ण नाम प्राप्त हुआ । यह गीता जो कि 'विषाद योग' से शुरू होती है 'संन्यास योग' में समाप्त होती है । विषाद नींव है, संन्यास उस पर निर्मित महान् भवन है । विषाद बीज है और संन्यास फल है ।

प्रश्न उठ सकता है कि अर्जुन को कैसे इतना शुद्ध स्वभाव वाला माना जाये जितना कि गीता-ज्ञान प्राप्ति के लिए आवश्यक है ? "अर्जुन" शब्द का अर्थ है शुद्ध, निष्कलंक, शुभ्र- यह सर्वथा उपयुक्त नाम दिया गया था और जैसा नाम वैसा ही उसका जीवन था । इसलिए उसे भगवान् श्रीकृष्ण का साक्षात् सान्निध्य

मिला । यही कारण था जिससे वह संसार को गीता-ज्ञान पारितोषिक देने वाला निमित्त बना ।

कृष्ण ने 'योग' शब्द का उपयोग गीता में कई बार किया है ! योगाभ्यास मे जीव की जो अवस्था रहती है उसका वर्णन भी किया । लेकिन फिर भी जिन्होंने गीता का अध्ययन किया है उनके मन में एक शंका उठना सम्भव है कि साधारणतया योग के प्रचलित अर्थ और कृष्ण के 'योग' शब्द के प्रयोग में भिन्नता है । कुछ जगह तो कृष्ण ने वैराग्य को उत्तम बताया और दूसरी जगह उन्होंने कहा कि श्रेष्ठ मुक्ति उपासना द्वारा ही प्राप्त होती है । आध्यात्मिक आनन्द की प्राप्ति के विविध उपाय भी उन्होंने बताये । आठवें अध्याय में राजयोग के बारे में भी उपदेश दिया है, लेकिन इससे यह कहना कि गीता राजयोग की शिक्षा देने वाली पुस्तक है, अनुचित ही होगा ।

भगवान् कृष्ण में पूर्ण समर्पण भाव, बाह्य पदार्थ विषयक वस्तुओं से व्यक्ति को बाँधने वाले विविध बंधनों से मुक्ति, सत्कार्य और सदाचार के नियमों का पालन, यह गीता के प्रमुख सत्य सिद्धान्त हैं । भगवान् ने इन्हें श्रेष्ठ प्रकार की शिक्षा और आन्तरिक उन्नति के गूढ रहस्य कहे हैं । गीता का सच्चा अर्थ सब नहीं समझ सकते । प्रसिद्ध विद्वान और अपूर्व बुद्धि वाले लेखक भी इसके संदेश के रहस्य को नहीं सुलझा सके हैं । टीकाकारों का मत है कि इस सब परिवर्तनशीलता के मध्य में पूर्ण संतुलन या मुक्ति पाने का सिद्धान्त अन्य सबसे अधिक आवश्यक है । दूसरी ओर अन्य लोग, अपनी परिचित पाश्चात्य दार्शनिक पुस्तकों से गीता की तुलना कर, युवा मस्तिष्कों को भी वैसी ही शिक्षा देते हैं । इसमें संदेह नहीं कि पूर्ण-त्याग बहुत ही आवश्यक है । लेकिन इसको आचरण में बहुत कम लोग उतार पाते हैं । यदि किसी भी आध्यात्मिक शिक्षा को विश्वव्यापी सर्वमान्यता प्राप्त करनी है तो उसके नियम ऐसे होने चाहिएं जिनको प्रत्येक व्यक्ति अपनी दिनचर्या और कार्यों में अनुभव करें, उन्हें अपने आचरण में उतार सके ।

अपने स्वधर्म का निर्भयता से पालन करना ही सर्वश्रेष्ठ धर्म है । लेकिन यहाँ धर्म और नैतिकता के संघर्ष की समस्या उठ खड़ी होती है । "गहनः कर्मणो गतिः"; नैतिक अनुशासन के बारे में भगवान् कहते हैं "यह कठिन और आपत्तियों से भरा है" कौन सा कर्म उचित है, कौन सा नहीं ? धर्म की दृष्टि से कौन सा कार्य धार्मिक

है कौन सा नहीं ? इसके बारे में लोगों ने उचित निर्णय पर पहुँचने का पहिले भी प्रयत्न किया है और अब भी कर रहे हैं । लेकिन कृष्ण ने उचित कार्यों के बारे मे इस प्रकार बताया है :

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ।।
सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ।।

"अपना ध्यान मुझमें स्थिर करो; केवल मुझ परमात्मा की अनन्य-शरण में आ जाओ । अनन्य प्रेम, निष्काम भाव से मेरी पूजा करो । ऐसा करने से तुम मुझे ही प्राप्त होगे यह मैं सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ, क्योंकि तुम मेरे प्रिय सखा हो । यही मेरी शिक्षा है, अनुग्रह है । मुझे प्राप्त करने का यही मार्ग है । सम्पूर्ण कर्मों के फल की आशा को त्याग कर केवल मेरी शरण में आओ, शोक मत करो ; मैं तुम्हें सब कार्यों के परिणामों से मुक्त कर दूँगा ।

आह ! इन दो श्लोकों के अर्थ और महत्व पर ध्यान दो । क्या यह समर्पण तुमको इस संसार में आने, रुकने और जाने के चक्र से बचाने और मुक्त करने में पर्याप्त नहीं है ? 'मन्मना' --यानि प्रत्येक प्राणी में परमात्मा को ही देखना, अस्तित्व के प्रत्येक क्षण मे परमात्मा की चेतना । इसी चैतन्य के आनन्द में लीन रहना । मद्भक्त अर्थात् परमात्मा के प्रति निश्चल भक्ति और प्रेम के परिणामस्वरूप उत्पन्न सम्बन्ध में एकरूप हो जाना । मद्-यजी का अर्थ है कि छोटे-बड़े सब कार्य (इच्छा, संकल्प, वृत्ति, कृति, फल प्राप्ति) आरम्भ से अन्त तक कृष्ण को अर्पण कर दो और अपने सब मोह को त्याग कर, सब कार्य निष्काम पूजा समझ विरक्त भाव से करो, भगवान् तुमसे यही चाहते हैं ।

ऐसा पूर्ण समर्पण करना वास्तव में कठिन है । फिर भी व्यक्ति यदि थोड़ा भी प्रयत्न करे तो भगवान् स्वयं उसे पूर्ण समर्पण करने का धैर्य व शक्ति देंगे । वह उसके साथ चलकर मित्र की तरह मदद करेंगे, पथ-प्रदर्शक की तरह मार्ग दिखायेंगे; उसे बुराई और प्रलोभनों से बचायेंगे; भगवान् उसका सहारा, और वे ही उसकी लाठी की तरह सहायक बनेंगे । उन्होंने कहा, "स्वल्पमस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ।" (इस पथ का थोड़ा भी अनुसरण करने से महान् भय से बच

जायेगा) धर्माचरण स्वयं आनन्द का स्रोत है । इस मार्ग में बहुत कम बाधायें हैं । भगवान् की यही शिक्षा है ।

"मामेवैष्यसि --तुम मेरे पास आओगे, तुम मेरी प्राप्ति की ओर आओगे" अर्थात् तुम मेरे रहस्य को जानोगे, तुम मुझ में प्रविष्ट होगे, तुम्हें मेरा स्वभाव प्राप्त होगा । इस प्रकार सादृश्य (परमात्म स्वभाव की प्राप्ति), सालोक्य (परमात्मा में लीन) सायुज्य (परमात्म-स्वरूप)- शब्दों का अर्थ कृष्ण ने बताया । जब व्यक्ति प्रत्येक में परमात्मा को देखने की अवस्था प्राप्त कर लेता है, जब ज्ञान का प्रत्येक साधन उसी एक परमात्मा का अनुभव कराता है, वही दिखता है, सुनाई देता है; रस, गंध, स्पर्श में भी परमात्मा का ही अनुभव होता है तब ऐसा व्यक्ति परमात्मा के शरीर का एक हिस्सा बन जाता है, परमात्मा उसी के साथ रहता है इसमें कोई संदेह नहीं । अपनी उन्नति के लिए इस कर्त्तव्य को आरम्भ करते ही तुम्हें प्रथम प्रयास में ही एक नई शक्ति मिलेगी, एक अत्यन्त पवित्र नये आनन्द से तुम रोमांचित हो जाओगे । तुम पूर्ण परमानन्द का आस्वादन करोगे, तुममें एक नई पवित्रता की स्फूर्ति भर जायेगी ।

यह धर्म असाधारण व्यक्तियों के लिए नहीं बनाया गया । यह सभी को प्राप्य है, क्योंकि परमात्मा को सभी चाहते हैं । सबमें इस पहचान की विवेक बुद्धि है कि इस परिवर्तनशीलता के पीछे एक मौलिक आधार है । अत्यन्त अधम पापी भी जब पश्चाताप की पीड़ा से विह्वल हो भगवान् की अनन्य शरण में जाता है तो वह भी उसी क्षण स्वच्छ हृदय हो, पवित्र बन जाता है । इसलिए भगवान् की आज्ञा है कि प्रत्येक को अपने विशिष्ट धर्म का पालन करना चाहिए । प्रत्येक को अपना जीवन अपनी सभ्यता के आध्यात्मिक आधार पर रचना चाहिये और बाह्य पदार्थ विषयक दृष्टि को त्याग कर परमात्मा की वाणी को सुनना चाहिए ।

प्रत्येक भारतीय भारतवर्ष के मार्ग-दर्शक --गोपाल-- की वाणी सुनने का विशिष्ट अधिकारी है; उस वाणी द्वारा उनमें व्याप्त अन्तरवर्ती दिव्यता, उनके द्वारा कहे गये प्रत्येक शब्द में, प्रत्येक अंकित अक्षर से, मन की हरेक इच्छा से, विचार से कार्य और भौतिक वस्तुओं, जैसे अन्न, आश्रय और आरोग्यता प्राप्त करने के ढंग में व्यक्त होनी चाहिए । इसी प्रकार भारतवर्ष मानवता को प्राप्त इस श्रेष्ठ सनातन धर्म के विशिष्ट उपहार का, संसार के सामने दिग्दर्शन कर शांति स्थापित

कर सकता है । इस धर्म के अनुसार कार्य ही ऐसा आत्मविश्वास प्रदान कर सकते हैं जिसके द्वारा सब कठिनाइयों पर विजय प्राप्त होकर आत्मशक्ति पुष्ट होती रहे ।

स्पष्ट मार्ग-दर्शन देकर पवित्र गीता वही वरदान प्रदान करती है ।

दूसरा अध्याय

पहले अध्याय को 'कृष्ण-गीता' न कह 'अर्जुन-गीता' ही कहना चाहिए । शोक और दुविधा में घिरा अर्जुन युद्ध क्षेत्र से मुँह फिरा कर अपने शस्त्र एक ओर रख देता है । दो विरोधी दलों की सेनाओं के मध्य स्थित अपने रथ में वह हतोत्साह हो इधर-उधर दृष्टि दौड़ाता है । भ्रांत चित्त और व्याकुल हो चारों ओर देखता है और अपने सगे सम्बन्धियों के चेहरों को देख कर वह करुणा से भर जाता है । उसका प्रख्यात धनुष हाथ से फिसल जाता है और अशक्त हो न तो वह खड़ा रह सकता है, न बैठ सकता है । उसका मन पूर्व मीमांसा की दार्शनिक भूलभुलइयों में उलझ जाता है । वह युद्ध न करने का निश्चय करता है । जब संजय ने अन्धे राजा धृतराष्ट्र को यह बात बताई तो विजय पाने की आशा से वह अत्यन्त प्रसन्न हो गया । इस प्रकार धृतराष्ट्र में न तो दूरदर्शिता थी और न पूर्वकल्पना । दिव्य दृष्टि तो बिलकुल ही नहीं के बराबर थी । उसको तो अपने अखण्ड साम्राज्य का स्वप्न बिना कष्ट उठाये ही सत्य होते दीखा और वह प्रसन्न हो गया ।

लेकिन संजय जिसमें दिव्य दृष्टि थी उसने सोचा कैसे उन्मादपूर्ण आनन्द से यह प्रभावित हो रहा है ? जब स्वयं भगवान् पांडवों के पक्ष में हैं तब इस राजा के दुष्ट इरादे कैसे सफल हो सकेंगे ? और अर्जुन के युद्ध में लड़ने के भयानक परिणामों के चित्र उसे दृष्टिगोचर होने लगे ।

अर्जुन के गालों पर अश्रु बिन्दु ढुलक रहे थे । आँखों में अश्रु भर गये थे ।

भगवान् भी यह दृश्य सहन न कर सके ; उनसे चुप न रहा गया । उन्होंने तुरन्त जान लिया कि मोह का रोग (असत्य मूल्यांकन के कारण उत्पन्न मोह) अर्जुन के स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीनों शरीरों में व्याप्त हो गया है । उन्होंने देखा कि अर्जुन का दया भाव असत्य था । क्योंकि सच्ची दया दैवी सम्पत (दिव्य उत्साह, प्रवृत्तिया और आदर्श) से पूर्ण होती है । वह भगवान् की आज्ञाओं की अवहेलना नहीं करती । यथार्थ में तो दया के आवरण में वह अर्जुन का अहंकार ही था । भगवान् ने उसकी यह दुर्बलता दूर करने का निश्चय किया । गीता में कहा है "कृपयाविष्टम्" । "दया से घिरा" अर्जुन असहाय हो गया था और इसी की चिकित्सा होनी थी ।

जिस प्रकार एक व्यक्ति के शरीर से भूत निकाला जाता है अर्जुन को भी भय और कायरता से मुक्त करना था । जिसके पक्ष में भगवान् हैं उसे डरना नहीं चाहिए । कोई 'भूत' भगवान् का क्या बिगाड़ सकता है, वे तो स्वयं पंचभूतों के परमेश्वर हैं ? "वैद्यो नारायणो हरिः" भगवान् श्रेष्ठ वैद्य हैं । नारायण वैद्य की अर्जुन को आवश्यकता थी और वह उसे मिल गये ।

अर्जुन कितना भाग्यशाली था ! विषाद की गहनता में आनन्द उमड़ता है । गीता में दूसरे अध्याय के ग्यारहवें श्लोक तक अर्जुन के विषाद की कहानी है । इसीलिए अर्जुन की चिकित्सा का पहला चरण सांख्य योग, ज्ञान-मार्ग की व्याख्या है ।

ग्यारहवें श्लोक से कृष्ण का अमृतोपदेश प्रारम्भ होता है; यथार्थ में भगवत् गीता यहीं से आरंभ होती है । इसके पूर्व अज्ञान एवं मंदबुद्धता से उत्पन्न अर्जुन के भ्रम का ही वर्णन है । कृष्ण, द्रष्टा बने, अर्जुन के विषाद को गहराने देते हैं । अन्त में, जब अर्जुन अपना धनुष फेंककर युद्ध करने से मना करता है तथा स्वीकार करता है कि उसकी विवेक बुद्धि नष्ट हो चुकी है और प्रार्थना करता है कि कृष्ण ही उसकी समस्या को उचित रूप में हल करने का मार्ग दिखायें तब कृष्ण उपदेश प्रारम्भ करने के लिए तैयार होते हैं और कहते हैं :

"अर्जुन ! तुम सदैव कितने निर्मल और तेजस्वी थे, कायरता की विषाद भरी काली छाया से अब क्यों घिर गये हो ? तुम्हारे जैसे शूरवीर को यह शोभा नहीं देता । अर्जुन शब्द का अर्थ है शुद्ध और निष्कलंक । तब यह विषाद किस

लिये ? युद्ध तो अवश्यभावी है । लड़ाई के बादल घिर आये हैं और गर्जना कर रहे हैं । सामने तत्पर शत्रु युद्ध प्रारम्भ होने के क्षण के लिए उत्सुक हैं । उन्होंने तुम्हारे साथ अगणित अन्याय और क्रूरतापूर्ण व्यवहार किये हैं और अब जिस भूमि के तुम अधिकारी हो उसे भी वे छीनना चाहते हैं । अब तक उन्होंने तुम्हें जितना भी कष्ट दिया, सत्य-पथ से बिना हटे तुमने सहन किया । तुमने सभी शर्तें और निर्वासन की अवधि भी पूरी की । समझौते के तुम्हारे सब प्रयत्न भी निष्फल रहे; तुम युद्ध रोक नहीं सके । जहाँ तक उचित था हमने माना । लेकिन अब युद्ध ही एक मार्ग है जिसके द्वारा दुर्योधन के अन्याय के प्रति उसकी आँखें खोली जा सकती हैं ।

बहुत सोच-विचार के बाद युद्ध करने का निर्णय हुआ था । यह कोई क्रोध की उत्तेजना और शीघ्रता में किया हुआ प्रस्ताव नहीं है । उत्तरदायित्व को समझने वाले वृद्धजनों ने अच्छी प्रकार भला-बुरा तौल कर युद्ध की अनिवार्यता का निर्णय किया है । अपने भाइयों सहित तुमने यह स्वीकार किया और इस निर्णय की सराहना भी की । तुमने इस युद्ध की तैयारी भी उत्साह से की । औरों से अधिक तुम्हीं इसमें लीन थे । और अब इस प्रकार तुम्हारा बदल जाना कितना अनुचित है ।

क्षण भर में तुम पर युद्ध नहीं टूट पड़ा है । तुम युद्ध की सामग्री पहले से जुटा रहे थे । याद करो कि भगवान् शिव से पाशुपत अस्त्र प्राप्त करने के लिए तुमने कितना संघर्ष किया, भूखे रहे, जंगली जड़ों और फलों को खाया और फिर देवाधिदेव इन्द्र के लोक तक इस युद्ध के लिए दिव्य बाणों को प्राप्त करने गये ।

मैंने सोचा था कि दुष्ट कौरव वंश के नाश का उचित समय आ गया है, लेकिन तुमने तो यह शोक गीत अलापना प्रारम्भ कर दिया ! यह अशुभ स्वर क्यों निकालते हो ? किस शास्त्र में ऐसी व्यवस्था निर्दिष्ट है ? क्षत्रिय होने के कारण धर्म समर्थन और न्याय की रक्षा के जो तुम्हारे कर्त्तव्य हैं उन पर विचार करो । तुम्हारी वीरता, साहस और दृढ़ता ही तुम्हारा धन है । लेकिन तुम तो इस विचित्र मोह में घिर गये हो जो करुणाजनक और अनुचित है ।

ऐसी कायरता तुम्हारे लिए और तुम्हारे यशस्वी पूर्वजों के लिए भी लज्जाजनक है । धिक्कार है तुम्हें, जिसने क्षत्रिय जाति का इस प्रकार निरादर किया ! तुम्हारे

लिए तो युद्ध स्वर्ग को ले जाने वाला राज-मार्ग है । यदि तुमने युद्ध-क्षेत्र से अब मुँह मोड़ लिया तो अपयश से कैसे बच सकोगे? तुमने अपनी शस्त्र शक्ति के कारण "विजय" नामक पदवी पाई है । जीवन भर प्रयत्न कर जो सुयश तुमने कमाया है उसे कलंकित मत करो । अशक्त करने वाले इस मोह को त्याग दो ।

मेरी बात सुनो, अमरावती में क्या हुआ था उसे याद करो । दिव्य अप्सरा उर्वशी जब तुमसे पुत्र चाहती थी तब तुमने उत्तर में कहा था, "मुझे ही अपना पुत्र समझो," । इससे तुम्हारी अतुल्य वीरता प्रकट हुई । अपनी पराजय के परिणाम-स्वरूप जो श्राप उसने तुम्हें दिया उससे तुम्हें राजा विराट की सभा में राजकुमारियों को नृत्य सिखाने वाले हिजड़े के रूप धारण करने में सहायता मिली, ठीक है न?

मुझे बताओ, वह शौर्य अब कहाँ गया? ऐसे पराक्रमी पर कायरता कैसे छा गई? इस युद्ध में सहायता के लिए तुमने मेरी नींद में विघ्न डालकर प्रार्थना की थी, और अब तुम उसी युद्ध से भाग रहे हो? क्या मेरी मदद इस प्रकार चाहते हो कि तुम भागते रहो, मैं देखता रहूँ? इस मोह को जड़ से उखाड़ फेंको; भय को भस्म कर दो । फिर से पराक्रमी योद्धा बनो ।" कृष्ण ने समझाया ।

इस सन्दर्भ में कृष्ण ने चार शब्दों का प्रयोग किया : कश्मलम् (अज्ञान) अनार्यजुष्टम् (प्रत्येक में निहित दैविक स्वभाव के लिए हानिकारक चरित्र) अस्वर्ग्यम् (वह गुण जो मनुष्य में व्याप्त दिव्यता का क्षय करता है) अकीर्तिकरम् (अनंत ऐश्वर्य को नष्ट करने वाला चरित्र) ।

किसी भी क्षत्रिय के खून को खौलाने वाले इन प्रेरणादायक शब्दों का अर्जुन पर बहुत प्रभाव पड़ा । अज्ञान के घने काले बादल, जिनसे अर्जुन घिरा हुआ था छँटने लगे । सत्य को भुला देने वाला तमस् हटने लगा, रजोगुण फिर से उदय हुआ और अर्जुन ने पूछने का साहस किया, "कथम् ?" (कैसे?) । यह शब्द बहुत महत्व का है । इससे पता चलता है कि गीता में केवल क्या करना चाहिए इतना ही नहीं, किन्तु कैसे करना चाहिये, यह भी पता चलता है ।

अर्जुन ने कृष्ण से पूछा - "हे मधुसूदन ! मेरी बात सुनो । युद्ध क्षेत्र में जो सबसे आगे खड़े हैं वे सब पूज्य हैं । भीष्म पितामह ने हमारे पिता की मृत्यु के पश्चात् हमारा पालन किया और हम जो कुछ भी आज हैं उन्हीं की कृपा का फल

है । हमारे वंश के पूज्य, ज्येष्ठ, हमारे पिता तुल्य हैं; और द्रोण के लिये क्या कहूँ? वह मुझे अपने पुत्र अश्वत्थामा से भी अधिक चाहते थे । मुझे उनका पूर्ण स्नेह मिला । वह ऐसे गुरु रहे हैं जिन्होंने मुझे अपना प्रिय शिष्य माना और प्रेम से मुझे श्रेष्ठ धनुर्विद्या सिखाई । क्या अब आप यह चाहेंगे कि जो विद्या उन्होंने मुझे सिखाई उसका उपयोग मैं उन्हीं को पराजित करने के लिए करूँ? क्या भारत पुत्र के लिये ऐसा कार्य उचित है ; युद्ध में तो हम केवल शत्रुओं को ही मारते हैं न ? अपने आदरणीय पिता व शिक्षकों के साथ भी क्या हमें युद्ध करना होगा ?

आप कहते हैं कि युद्ध से स्वर्ग की प्राप्ति होती है । मैं नहीं समझ सकता कि इन आदरणीय गुरुओं को मारकर स्वर्ग का अधिकारी कोई कैसे बन सकता है । इस प्रकार तो संसार में शायद ही कोई गुरु जीवित रह पाए । आप कुछ भी कहें, लेकिन मेरी भी बात सुनिये , इस प्रकार सुख और सत्ता प्राप्त करने से तो घर-घर भिक्षा माँग कर जीना अच्छा है । ऐसे मनुष्यों को मारकर प्राप्त अन्न में तो उनका रक्त मिल जाता है । इससे तो मैं भिक्षा द्वारा प्राप्त अन्न ही खाना पसन्द करूँगा ।

अच्छा, यदि मैं इस मन के ताप को भूलकर युद्ध करूँ भी तो क्या भरोसा कि जीत मेरी ही होगी ? क्या जीत की आशा में अपने इन वन्दनीय लोगों को मारने का निश्चय करूँ और अपने लोक-परलोक दोनों ही को खो दूं? और यदि अचानक कहीं कौरवों की जीत हो गई तो हमें भिक्षा वृत्ति अपनानी ही पड़ेगी, और यदि हम जीते तो वह हमारी हार जैसी ही होगी क्योंकि अपने सगे सम्बन्धियों को मार कर पाई हुई जीत से क्या लाभ? कृष्ण! हमें इससे हमेशा के लिये कभी न मिटने वाला विषाद ही मिलेगा । मैं इस समस्या को नहीं सुलझा सकता । मेरी बुद्धि काम नहीं कर रही । मुझे समझ में नहीं आता कि मेरा स्वभाव इतना कैसे बदल गया ? क्या उचित है क्या अनुचित, क्या धर्म है क्या अधर्म यह भी मैं नहीं पहचान पा रहा हूँ ।

आपके शब्दों के आघात से मेरा क्षत्रिय खून खोलता है और मुझे युद्ध में जाने के लिए उत्तेजित करता है । लेकिन इन पूज्य बड़े सम्बन्धियों का हत्यारा होने का भय मुझे पीछे खींच रहा है । मैं विवश हूँ । जिस प्रकार आप इस रथ को चला

रहे हैं, मेरा भी मार्ग-दर्शन कीजिये । मुझे सांसारिक समृद्धि नहीं चाहिये, मैं तो केवल आध्यात्मिक उन्नति का आकांक्षी हूँ," उसने कहा । उसी क्षण से कृष्ण गुरु हुए और अर्जुन शिष्य । अर्जुन की यही प्रार्थना थी और वह स्वीकृत हुई । जब तक अर्जुन में शिष्य बनने की इच्छा नहीं हुई थी, उसका हृदय अहंकार और कमजोरियों से भरा था । जो शूरवीर था अब शून्य बन गया था । अर्जुन श्रीकृष्ण के ठीक सामने बैठ गये ।

परिस्थिति पर ध्यान देने से मालूम पड़ेगा कि इन सबका कारण अन्य कुछ नहीं "अहंकार" ही है । 'प्रेम' कृष्ण का दृष्टिकोण है और 'भ्रम' अर्जुन का, उसके दु ख का कारण 'भ्रम' ही था । जब उसने समझा कि अहंकार से केवल अज्ञान और व्याकुलता ही मिलती है तब उसने अपने निर्णय भगवान् को समर्पित कर दिये और अपने को बचा लिया । उसने कहा कि वह तो भगवान् के हाथों में एक यन्त्र मात्र ही है । अपनी भूल पहचानना ही एक अच्छे शिष्य की पहली विशिष्टता है, यहीं से ज्ञान का आरम्भ होता है । जो मूर्ख हैं वही अपने को विद्वान् समझते हैं और परिणाम-स्वरूप वे विकृत मस्तिष्क वाले हो जाते हैं ।

तीसरा अध्याय

अपनी विशिष्टताओं का प्रदर्शन, प्रशंसा और गर्व के लिए करने की अपेक्षा, साधकों को अपनी त्रुटियां खोजकर उन्हें दूर करते रहना अधिक उपयोगी होगा । ऐसा करने से उनकी उन्नति शीघ्र होगी और कोई भी भय या चिन्ता उन्हें पीछे न घसीट सकेगी । भगवान् पर जिन्होंने अपना पूर्ण भार सौंपा है वे जब उस पर पूर्ण विश्वास रख आगे बढ़ेंगे तभी उन्हें मानसिक शांति प्राप्त होगी । एक सच्चे साधक के यही लक्षण हैं ।

अर्जुन की भी जब ऐसी स्थिति हुई तभी कृष्ण ने उसे (और उसके द्वारा मानवमात्र को) अमरत्व प्रदान करने वाला उपदेश दिया ।

गीता किस के लिए कही गयी है ? एक क्षण इस पर विचार करो । दूध गाय के लिए नहीं दुहा जाता क्योंकि वह उसे नहीं पीती । अर्जुन रूपी बछड़े को सन्तोष मिल गया था । कृष्ण तो सर्वदा सन्तुष्ट हैं । उन्हें स्वयं कुछ भी नहीं चाहिए । तब उपनिषद् रूपी गायों को दुह कर गीता रूपी दुग्ध किसके लिए दुहा गया ? कृष्ण कहते हैं "यह उन सुधी-जनों के लिए है जिनमें "सु + धी" जिनकी बुद्धि अच्छी है, जो सदाचार के नियंत्रण में हैं ।"

और गीता का उपदेश किस जगह दिया गया ? दो विरोधी सेनाओं के बीच में ! यही गीता का श्रेष्ठमहत्व है । एक ओर धर्म शक्ति, दूसरी ओर अधर्म शक्ति ; एक ओर अच्छाइयाँ और दूसरी ओर बुराइयां । इन दो तनावों के बीच खड़ा हुआ अकेला व्यक्ति समझ नहीं पाता कि कहाँ जाये क्या करे, क्या न करे । वह घबड़ा कर दुःखी हो रो उठता है । तब ऐसे विक्षिप्त और निराश व्यक्तियों को भगवान् गीता का उपदेश देकर प्रकाश और साहस प्रदान करते हैं । ऐसा नहीं समझना चाहिए कि अर्जुन का शोक केवल उसी का दुःख, उसी की समस्या थी और इससे अधिक और कुछ न था । यह दुःख तो मानवमात्र की विश्वव्यापक सामान्य समस्या है ।

अर्जुन ने कृष्ण से 'प्रेयस' सत्ता, पदवी और धन देने वाला सुखदायी सासारिक यश नहीं चाहा, उसने तो 'श्रेयस', पूर्ण सुख का नित्य निरन्तर स्थायी गौरव माँगा था । उसने कहा 'प्रेयस' तो मनुष्य के प्रयत्न या कर्म द्वारा प्राप्त हो सकता है । जो मैं अपने ही प्रयत्नों द्वारा पा सकता हूँ उसे आपसे क्यों माँगू ? मैं ऐसा मूर्ख नहीं हूँ । मुझे 'श्रेयस' दीजिए जिन्हें मैं अपने प्रयत्नों द्वारा भी नहीं पा सकता । श्रेयस कर्म का फल नहीं है वह तो भगवान् के अनुग्रह का फल है । इस प्रकार अर्जुन शरणागति के श्रेष्ठ शिखर पर पूर्ण समर्पण अर्थात् प्रपत्ति की स्थिति में पहुँच गया ।

शरणागति के बारे मे बहुत कुछ कहा जा सकता है । अनेक कारण हैं जिनसे एक व्यक्ति अपना गौरव और पदवी, धन, यश, सम्पत्ति, वैभव और सत्ता, अन्य दूसरे को समर्पित कर देता है लेकिन भगवान् के लिये अपने को समर्पित करने का अवसर कम ही मिलता है । जब तक आधेय की इच्छा है आधार की नहीं, तब तक उसे ऐसे पूर्ण समर्पण की उत्कठा होगी ही नहीं । उसे वस्तु की इच्छा है, लेकिन

आधार की नहीं जिस पर आधेय स्थित है ! ऐसी निराधार वस्तु कब तक सन्तुष्ट कर सकती हैं ? उसे तो उपहार चाहिए, उस उपहार को देने वाला नहीं !.. निर्माण की हुई वस्तु चाहिए, निर्माता नहीं ; हाथ की वस्तुएँ चाहिए, हाथ नहीं । इस रीति से वह ऐसी वस्तु का पीछा कर रहा होता है जिसका अस्तित्व ही नहीं है । क्या कोई भी वस्तु ऐसी हो सकती है जिसका अस्तित्व बिना कारण हो ? और यदि है भी तो वह केवल कारण रहित परमात्मा ही हो सकता है । इसीलिए कर्म से उत्पन्न क्षणभंगुर वस्तु व फल के लिए (उसके कारण के लिए नहीं) अपना व्यक्तित्व समर्पित करना केवल अज्ञान है आधार-कारण सबके मूल कारण सर्वेश्वर को ही अपना सर्वस्व समर्पण करो । यही सच्ची शरणागति है ।

शरणागति के तीन प्रकार हैं, त्वैवहम् (मैं तेरा हूँ), माम् एव त्वम् (तू मेरा है) । त्वमेवहम् (तू मैं हूं) । प्रथम निश्चय करता है मैं तेरा हूं, दूसरा स्थापित करता है तू मेरा है और तीसरा प्रकट करता है कि तुम और मैं एक ही हैं, अभिन्न हैं । क्रमानुसार प्रत्येक आगे की सीढ़ी है, और अन्तिम सबसे श्रेष्ठ है ।

प्रथम अवस्था तम्-एव-अहम् में भगवान् पूर्ण स्वतन्त्र हैं और भक्त पूर्ण बधन में है । जैसे बिल्ली और उसका बच्चा, बिल्ली जहां मन चाहे बच्चे को उठाकर रखती है । बच्चा सिर्फ म्यांऊ- म्यांऊ करता और उसके साथ जो कुछ भी होता है स्वीकार करता है । यह ढंग बहुत ही सौम्य और सभी को प्राप्त हो सकता है । दूसरी अवस्था--मम एव-त्वम्-- में भक्त भगवान् को, जोकि अब तक स्वतन्त्र था, बाँध लेता है ! सूरदास इसका उदाहरण हैं जिन्होंने कहा, "कृष्ण, तुम मेरी पकड़ से, इन बाँहों के बन्धन से छूट सकते हो लेकिन तुम मेरे हृदय में से, जहां मैंने तुम्हें बाँध रखा है, नहीं निकल सकते ।" भगवान् मुस्करा कर मान गये ! क्योंकि "मैं अपने भक्तों के बन्धन में हूँ ।" बिना मानहानि का विचार रखे वे मानते हैं कि प्रेम -विह्वल और अहंकाररहित भक्त उन्हें अपनी भक्ति से बाँध सकता है । व्यक्ति जब इस प्रकार की भक्ति से परिपूर्ण हो तब भगवान् स्वयं उसकी सब आवश्यकताए पूरी करते हैं ! इनके अनुग्रह से उसकी सब इच्छायें पूरी हो जाती हैं । यहाँ याद करो कि भगवान् ने गीता में क्या वचन दिया था --"योगक्षेमम् वहाम्यहम्' इसकी कुशलता का भार मैं वहन करता हूं ।"

अब तीसरी अवस्था --"त्वमेव अहम् इति त्रिधाः" यह अविभक्त-भक्ति

हैं । भक्त भगवान् को अपना सब कुछ और स्वयम् को भी समर्पित करता है, क्योंकि अब वह अपने को रोक नहीं सकता । यहीं पूर्ण समर्पण हो जाता है ।

त्वमेव अहम् की भावना अद्वैतिक शरणागति है । इसका आधार यह सब 'इदम्' वसुदेव ही है इससे कम या अन्य कुछ नहीं, का ज्ञान ही है । जब तक देह का भान रहता है भक्त सेवक और भगवान् स्वामी होते हैं । जब तक भक्त दूसरे जीवों से अपने को भिन्न समझता है वह भगवान् की पूर्णता का एक हिस्सा ही बना रहता है । लेकिन जब वह और ऊँची अवस्था में आता है और शरीर व 'मैं' और 'मेरा' की सीमा से भी परे पहुँच जाता है तब भगवान् और भक्त का भेद-भाव मिट कर दोनों एक रूप हो जाते हैं । रामायण में हनुमान ने भक्ति की इसी तीसरी अवस्था को प्राप्त किया था ।

गीता के दूसरे अध्याय के सातवें श्लोक में इसी विषय का उल्लेख है । वहाँ 'प्रपन्न' शब्द का प्रयोग अर्जुन की योग्यता व भक्ति संयम को सूचित करता है । अर्जुन ने अपने दोषों की जांच-पड़ताल की, उनको पहचाना और उन्हें मान लिया । पुनः वह तमस् की नींद से जागृत हुआ । ऐसा होते ही कृष्ण ने सराहना करते हुए कहा, "तुम्हें इसीलिए गुड़ा-केश कहते हैं क्योंकि तुम निद्रा विजयी हो , निद्रा तो तमस् का लक्षण है फिर तुम्हें तमस् कैसे घेर सकता है ? यह तो केवल थोड़े समय के लिए है । तमस् तुम्हें बाँध नहीं सकता ।"

यदि अर्जुन ने अपने प्रयत्नों द्वारा, अपनी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर गुड़ा-केश नाम पाया था तो कृष्ण सब इन्द्रियों के अधिष्ठाता हृषीकेश थे । कुरुक्षेत्र की युद्ध-भूमि में दोनों एक ही रथ में बैठे हैं, एक शिष्य है और दूसरा शिक्षक है ।

सब दुःखों का वास्तविक कारण क्या है ? शरीर का मोह ही दुःखों का कारण है । मोह से शोक, शोक से उसके निकट सम्बन्धी स्नेह और तिरस्कार उत्पन्न होते हैं । यह दोनों ऐसी बुद्धि के परिणाम हैं जो कुछ वस्तुओं और स्थितियों को लाभकारी समझती है और अन्य कुछ वस्तुस्थितियों को अलाभकारी । ऐसा लाभ और हानि का विचार केवल भ्रम है । फिर भी लाभकारी वस्तु में तुम्हारी आसक्ति होती है और अन्य सबसे तुम्हें घृणा होती है । किन्तु श्रेष्ठ दृष्टिकोण से देखा जाये तो न कुछ लाभदायक है न हानिकारक ; ऐसा भेदभाव निरर्थक है । दो हैं ही नहीं, तो फिर भला या बुरा कैसे हो सकते हैं ? जहाँ एक है वहां दो दीखने का कारण माया

या अज्ञान है । जिस अज्ञान ने अर्जुन को शोक में डुबाया था वह इसी प्रकार का था जहाँ केवल एक है वहाँ अनेक देखना ।

'तत्वम्' अर्थात् आत्मा और परमात्मा की एकरूपता का ज्ञान न होना ही समस्त अज्ञान का कारण है । इस सत्य को न सीखने वाला मनुष्य इस शोक ससार में गोते खाता रहता है । लेकिन जो इसे सीख कर इसी सत्य के चैतन्य में जीवन व्यतीत करता है वह अवश्य शोक-मुक्त हो जाता है । अनेक उपचार बताये गये, उपयोग में लाये गये, उनका प्रचार हुआ और तोते की तरह बार-बार वैद्यों द्वारा दुहराये गये । लेकिन उनमें से कोई भी बीमारी की जड़ न पकड़ सके । वे केवल ऐसे बाम हैं जो कि पेट का दर्द मिटाने को आँख में लगाये जायें । दवा का बीमारी से कोई सम्बन्ध नहीं । दर्द को पकड़ उसकी पहचान कर ऐसी दवा देनी चाहिये जो दर्द मिटा दे । तभी बीमारी जा सकती है । नारायण ही ऐसे चतुर वैद्य हैं जो दर्द ठीक कर सकते हैं । उन्होंने अर्जुन की बीमारी ठीक से पहचानी और फिर इलाज करने का निश्चय किया ।

जो घाव बाहर से लगाने वाली दवा से ठीक नहीं होता उसका आंतरिक उपचार करना पड़ता है । इसलिये कृष्ण ने अर्जुन से कई प्रश्न किये, उन्होंने पूछा, "तुम कायरों की तरह क्यों रो रहे हो ? इसलिये कि भीष्म, द्रोण और अन्य सभी मारे जाने वाले हैं ? नहीं, तुम यह समझ कर रोते हो कि वे "तुम्हारे आदमी" हैं । यह तुम्हारा अहंकार तुम्हें रुला रहा है । लोग मरने वालों के लिए नहीं रोते ; इसलिए रोते हैं कि मरे हुए लोग "उनके" थे । क्या अब तक तुमने अनेकों ऐसों को नहीं मारा जो 'तुम्हारे नहीं' थे ? उनके लिये तो तुमने आँसू की एक बूँद भी नहीं गिराई ? आज तुम भ्रम में पड़े रो रहे हो कि जिन्हें सामने खड़े देख रहे हो वे विशिष्ट-रूप से किसी प्रकार 'तुम्हारे' हैं । निद्रावस्था में 'मैं' और 'मेरे' की भावना से तुम अप्रभावित रहते हो । इसलिये तब तुम्हारे, या इन तुम्हारे आदमियों के शरीर या तुम्हारी सम्पत्ति, वस्तुओं का, जिनको जागृत अवस्था में सतर्कता से याद रखते हो, तुम्हें भान नहीं रहता । 'मेरा' 'मैं' का सम्बन्धवान है इसलिए इसके पीछे-पीछे 'मेरा' घिसटता आता है । मेरे प्रिय मूर्ख ! अपने को जो तुम नहीं हो वही समझना अर्थात् शरीर समझना ही मुख्य अज्ञान है । देह आत्मा नहीं है : तुम्हारा विश्वास है कि यह देह ही आत्मा है । कितनी तुच्छ और उलट-पलट समझ है यह ! इस

अज्ञान को ठीक करने के लिये ज्ञान की ही औषध मुझे देनी होगी ।"

इस प्रकार कृष्ण उसे आरम्भ से ही ज्ञान की अत्यन्त प्रभावकारी दवा देने लगे । यह दूसरे अध्याय के ग्यारहवें श्लोक से विस्तृत है । गीता के सब विद्यार्थियों के लिये यही प्रधान श्लोक है । दीर्घकाल से जिन दो बातों पर अर्जुन को सन्देह होता था उनका कृष्ण ने बिल्कुल खंडन किया । उन्होंने कहा शरीर के नष्ट होने से आत्मा नष्ट नहीं होती । वह उनके लिए शोक करता जिनके लिए शोक करना ही नहीं चाहिए । "प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।" तुम बुद्धिमानों की तरह बातें करते हो । कहते हो यह धर्म है और वह अधर्म है, जैसे कि तुम वास्तव में धर्म और अधर्म क्या है, इसे पहचानते हो," कृष्ण ने कहा । यहां एक तथ्य ध्यान देने योग्य है । अर्जुन दो प्रकार के भ्रम से पीड़ित है: (१) साधारण, (२) असाधारण । स्वय को शरीर समझने का भ्रम रखना और अपने को (आत्मा को) ही कुछ हो गया है, मानकर शरीर के लिए शोक से सूख जाना, साधारण भ्रम है । अपने स्वधर्म को (यहां क्षत्रिय धर्म को) अ-धर्म समझ उसका त्याग करना असाधारण भ्रम है । कृष्ण पहले को नष्ट करते हैं और दूसरे को हटा देते हैं । पहले का विवरण दूसरे अध्याय के बारहवें से तीसवें श्लोक तक हैं 'स्वधर्म या अपना धर्म क्या है, इस विचार को एक विशिष्ट समस्या मान, इसे आठ श्लोकों में कृष्ण ने अर्जुन को समझाया । इन श्लोकों के समूह को धर्म-अष्टक कहा जाता है । स्वधर्म बन्धनकारी नहीं है; इससे पुनर्जन्म नहीं होता है ; यह मोक्ष की ओर ले जा सकता है ; इसे कर्मयोग समझ कर, फल में आसक्ति रखे बिना ही पालन करना होता है । दूसरे अध्याय के अन्त में ऐसे सफल साधक की व्याख्या की गई है जिसने शुद्ध ज्ञान में स्थिर हो स्थित-प्रज्ञता प्राप्त की है ।

कृष्ण ने आगे कहा, "अर्जुन ! थोड़ी देर के लिए इस पर विचार करो कि तुम कोन हो और क्या करने की सोच रहे हो । अपने आपको पूर्ण ज्ञानी बताकर भी एक असहाय स्त्री की तरह रोते हो । तुम्हारे शब्दों से लगता है कि तुम पंडित हो, लेकिन तुम्हारे कर्म तुम्हें मूर्ख घोषित कर रहे हैं । तुम्हारी बातें सुनकर किसी को लगेगा कि तुम ज्ञानी हो लेकिन तुम्हें देखते ही वह समझ जायेगा कि तुम एक अज्ञानी हो । संक्षेप में तुम्हारी यह स्थिति मुझे बिल्कुल नापसन्द है । ठीक है न ? यदि मैं तुम्हें पंडित मानूं भी, तो तुम्हारे ये आंसू पंडित होने की योग्यता नहीं

दिखाते, क्योंकि पंडित जीवन और मृत्यु के लिए शोक नहीं करते । और यदि वे शोकाकुल हों तो वे पंडित नहीं हैं । पंडित वे ही होते हैं जो मौलिक सत्य को पहचानने की क्षमता रखते हैं । भौतिक और आध्यात्मिक जगत के रहस्य को समझने वाले ही पंडित कहे जाते हैं । वे स-शरीर या अ-शरीर के लिए कैसे रो सकते हैं? चाहे जितना कष्ट या मानसिक व्यथा का दबाव उन पर पड़े वे अपनी आंतरिक शांति नहीं खोते ।

पूर्ण ज्ञानी और पूर्ण अज्ञानी दोनों को ही जीवित और मृत के लिए कोई शोक न होगा । भीष्म और द्रोण के शरीर नष्ट हो जायेंगे इसलिए तुम रोते हो या इसलिये कि इन दोनों की आत्मा नष्ट हो जाएगी ? क्या कहते हो ? शरीर के लिए ? ठीक है । रोने से कोई लाभ होगा ? ऐसा होता तो लोग अपने मृतजनों की लाशों को रखते और उन्हें रो-रोकर जीवित कर लेते । नहीं, ऐसा कभी नहीं होता । चाहे मृत शरीर को अमृत से भरे बर्तन में डुबो दो, वह पुनः कभी जीवित नहीं हो सकता । तब जिसे रोका नहीं जा सकता उसके लिए क्यों रोते हो ?

तुम कह सकते हो कि आत्मा के लिए, जोकि प्रधान आत्मिक आधार है, उसके लिए ही रोते हो । इससे तुम्हारी मूर्खता और अधिक बढ़कर प्रकाशित होती है । मृत्यु आत्मा तक पहुँच भी नहीं सकती । वह नित्य स्वयम् प्रकाशित और शुद्ध है । यह अब प्रत्यक्ष हो गया कि तुममें बिल्कुल आत्म-ज्ञान नहीं है ।

पुनः क्षत्रिय का स्वधर्म युद्ध है । अन्य सब विचार छोड़कर अपना कर्तव्य करो । तुम पूछते हो, "युद्ध में भीष्म की मृत्यु का कारण मैं कैसे बनूं ?" लेकिन वे सब तो मरने और मारने के लिए तत्पर होकर आये हैं; तुम उनके घरों में उन्हें नहीं मार रहे थे । निःसंदेह, यह सत्य है कि घरों में जाकर मारना अ-धर्म है, लेकिन युद्ध-क्षेत्र में मारना कैसे अधर्म हो सकता है ? मुझे दुःख होता है कि तुममें इतना भी विवेक नहीं है ।

"इतना काफी है । उठो, और युद्ध के लिए तत्पर हो जाओ । निरर्थक अहंकार के दबाव में आकर पृथ्वी की ओर क्यों झुके जा रहे हो ? संसार की सब वस्तुओं का कारण परमात्मा है, तुम नहीं हो । एक ऊँची, परमात्म शक्ति द्वारा सब संचालित हैं । इसे समझो और अपनी इच्छा उसके सामने झुका दो ।

"भीष्म, द्रोण और अन्य सच्चे क्षत्रिय योद्धाओं की तरह युद्ध के लिए एकत्र

हुए हैं । वे तुम्हारी तरह रो नहीं रहे हैं । इस पर विचार करो । वे न तो शोक करेंगे न पीछे हटेंगे । अर्जुन ! यह तुम्हारी परीक्षा का समय है । याद रखो ! मैं तुम्हें यह भी कहना चाहता हूँ कि ऐसा कोई भी समय नहीं था जब मैं नहीं था । इतना भी नहीं, ऐसा भी समय नहीं था जब तुम और यह सब राजे और राजकुमार नहीं थे । तत् परमात्मा हैं । त्वम् जीवात्मा है, दोनों एक थे, एक हैं, और सर्वदा के लिए एक रहेंगे । घड़े के निर्माण से पूर्व, घड़े में, और घड़े के पश्चात्, मिट्टी थी, है और रहेगी ।"

इन उपदेशों के प्रभाव से अर्जुन को चैतन्य लाभ हुआ और वह जागृत हुआ । उसने कहा, "हो सकता है आप परमात्मा हैं, हो सकता है आप अविनाशी हैं" । मैं आपके लिए नहीं रो रहा हूँ, लेकिन अपने जैसों के लिए रोता हूँ, जो कल आये, आज हैं, कल चले जायेंगे । हमारा क्या होता है ? कृपया मुझे यह स्पष्ट समझाइये ।

यहां एक विषय पर सावधानी-पूर्वक ध्यान दो । तत् अर्थात् परमात्मा नित्य है, इसे सभी मानते हैं । लेकिन त्वम् भी, व्यक्ति भी, परमात्मा है ! (असि) वह भी नित्य है । चूँकि इसे इतना शीघ्र या सरलता से समझा नहीं जा सकता, कृष्ण ने इसे विस्तार-पूर्वक समझाया और कहा, "अर्जुन ! तुम भी परमात्मा की तरह नित्य व पूर्ण हो । सीमित करने वाले आवरणों को हटाने से व्यक्ति ही सर्वव्यापी हो जाता है । गहना बनने से पूर्व सोना था, गहना बना तब भी सोना है और गहने का नाम-रूप मिट जाने पर भी सोना ही रहता है । आत्मा इसी प्रकार नित्य रहती है, शरीर रहे या न रहे ।

आत्मा का संबंध शरीर से रहने पर भी, वह गुणों और धर्मों से अप्रभावित रहती है; अर्थात् आत्मा गुण रहित और लक्षण रहित है । शरीर में होने वाले परिवर्तन जैसे शिशु से लड़का, लड़के से युवा, युवा से प्रौढ़ और उससे वृद्ध होने का, तुम पर कोई प्रभाव नहीं होता, शरीर में इतने परिवर्तन होने पर भी तुम नित्य निरन्तर रहते हो । शरीर के नष्ट होने पर भी तुम, जो कि आत्मा हो, नित्य और निरन्तर हो । इसलिए कोई भी वीर इस मृत्यु नामक परिवर्तन के लिए शोक से पीड़ित नहीं होगा । कृष्ण ने यह बात इतने आवेश से कही कि पूरा रथ कॉपने लगा ।

चौथा अध्याय

अर्जुन अब भी संदेह से घिरा था । उसने कहा, "भगवान्, आप कहते हैं कि शारीरिक परिवर्तन, जागृत, स्वप्न और निद्रा अवस्थाओं की तरह ही हैं । लेकिन जब हम गहरी नींद से जगने पर भी अपने अनुभव नहीं भूलते तब पूर्व जन्म के अनुभव 'मृत्यु' नामक घटना के होते ही विस्तृत हो जाते है" । कृष्ण ने उत्तर दिया कि सब अनुभवों को याद रखना शक्य नहीं होता, फिर भी कुछ अनुभव याद रह जाते हैं । क्योंकि आत्मा नित्य है, वाहन मात्र ही तो बदलता रहता है ।

तब अर्जुन ने विषय बदला । यह विषय अर्जुन को ही नहीं और लोगों को भी व्याकुल करता हैं । इसीलिए कृष्ण ने कहा कि 'धीरस्त न मुह्यति' जो धीर पुरुष हैं इस विषय के भ्रम में नहीं पड़ते । कृष्ण यह नहीं कहते कि अर्जुन को इससे भ्रमित नहीं होना चाहिए, वह तो सब अस्थिर मन वालों को शिक्षा देना चाहते थे । सदेह के उठते ही कृष्ण ने प्रत्येक संदेह का निवारण किया । उन्होंने कहा, "अर्जुन, इन तीन अवस्थाओं में से होकर जाते समय, बुद्धि कुछ घटनाओं को अपनी पकड़ में रखती है लेकिन शरीर की मृत अवस्था होने पर वह भी नष्ट हो जाती है और एक ही झटके में सब विस्मृत हो जाता है । स्मरण शक्ति बुद्धि की क्रिया है, आत्मा की नहीं ।"

विचार करो कि अभी तुम निश्चित रूप से यह नहीं बता सकते कि अमुक दिन ठीक दस वर्ष पूर्व तुम कहाँ थे । लेकिन दस वर्ष पूर्व तुम थे इसमें कोई संशय नहीं । नहीं थे, ऐसा नहीं कह सकते । तुम्हारे पूर्व जन्म की भी यही बात है । तब तुम थे लेकिन ठीक ठीक याद नहीं कर पाते कैसे और कहाँ थे, बुद्धिमान् मनुष्य ऐसे संदेहों से न तो भ्रमित होता है और न व्यग्र होता है ।

आत्मा मरती नहीं है, शरीर सर्वदा नहीं रहता है । क्या तुम यह सोचते हो कि तुम्हारे विरोधियों की आत्मा अपनी संभावित मृत्यु के लिए तुम्हें इस प्रकार संतप्त देख प्रसन्न होंगी ? ऐसा सोचना पागलपन है । कुछ भी हो, आत्मा न तो प्रसन्न होती है, न संतप्त । इन्द्रियों को अपनी जगह रहने दो, इनसे डरने का कोई कारण नहीं, इन्द्रियों का वस्तुओं से सम्पर्क होने पर ही आनन्द और शोक की बाधायें उत्पन्न होती है । जब तुम अपनी निंदा सुनते हो तभी तुम्हें क्रोध और दु ख होता है । यदि तुम अपनी निंदा सुनों ही नहीं तो तुम्हें ऐसी कोई व्याकुलता भी नहीं

होगी । वस्तुओं के संपर्क में इन्द्रियों का आना ही शोक और आनन्द के युग्म का कारण है ।

यह सब गर्मी और सर्दी की तरह है । सर्दी में तुम्हें गरमाहट चाहिए और गर्मी में ठंडक । इन्द्रियों का वस्तुओं से सम्पर्क ठीक इसी प्रकार का है । जब तक संसार है वस्तुओं से संपर्क टाला नहीं जा सकता । जब तक पूर्व जन्मों का बोझ है, सुख-दुःख टल नहीं सकते । फिर भी इन्हें टालने या सहन करने की कला, इनके नियम और रहस्य की निपुणता आसानी से प्राप्त की जा सकती है ।

तुम्हें समुद्र-स्नान को जाना हो तो लहरों के शांत होने तक बाहर खड़े होकर राह देखने से क्या लाभ ? लहरों का आना जाना कभी न रुकेगा । आती हुई लहरों के झटके और जाती हुई के खिंचाव से बचने की युक्ति बुद्धिमान व्यक्ति सीख लेता है । बहुत से लोग आलस्य वश इस कला का सीखना टाल देते हैं । अर्जुन ! तितिक्षा का कवच पहनो तब अच्छे या बुरे भाग्य के झटके तुम्हें हानि नहीं पहुँचा सकेंगे ।

तितिक्षा का अर्थ है विरोधी भावों के निरन्तर संघर्ष के बीच मानसिक शान्ति बनाये रखना । शक्तिशाली का यह विशिष्ट अधिकार है । वीर की यही दौलत है । अशक्त व्यक्ति कभी स्थिर-चित्त नहीं हो सकते, व्याकुल होने पर वे मोरपंख की तरह निरंतर रंग पलटते रहते हैं । घड़ी के लंगर की तरह कभी इधर, कभी उधर, कभी आनन्द की ओर, कभी शोक की ओर झूलते हैं ।

यहाँ एक विषय पर पल भर ध्यान देना होगा । सहनशीलता धैर्य से भिन्न है । तितिक्षा का अर्थ भी 'सहन' नहीं है । 'सहन' अर्थात् सहन करना, निर्वाह करना क्योंकि और कोई अन्य मार्ग नहीं है । उसको जीतने की क्षमता रखते हुए भी उसकी परवाह न करना-- इसी को आध्यात्मिक अनुशासन कहते हैं । धैर्य पूर्वक बाह्य सांसारिक द्वैतता को आंतरिक स्थिरचित्तता और शान्ति के साथ सहना-- यही मुक्ति मार्ग है । विवेक बुद्धि द्वारा, सूक्ष्म परीक्षण कर सब सहना, इसी प्रकार का सहना फलप्रद है ।

(ऐसे परीक्षण का नाम विवेक है । इसका अर्थ है "आगमापायिनः" बाह्य संसार के स्वभाव को, इस वस्तु संसार को और इसमें 'आकर जाने वाली' अनित्य क्षणभंगुर वस्तुओं को पहचानने की योग्यता) । साधारणतया मनुष्य सुख और आनन्द ही चाहता है । कैसा भी दबाव हो वह दुःख और शोक नहीं चाहता । सुख

और आनन्द को ही वह अपना निकटतम शुभचिंतक समझता है और दुःख व शोक उसको भयानक दुश्मन से लगते हैं । यह एक बहुत बड़ी भूल है । सुख की अवस्था में शोक का खतरा है, उस सुख के छिन जाने का भय मनुष्य का सदा पीछा करता रहता है । दुःख जाँच-पड़ताल विवेक और आत्म-परीक्षण का प्रेरक है और बुरी से बुरी घटनाओं के होने का भय दिखाता है । वह तुम्हें आलस्य और अभिमान की निद्रा से जगाता है । मनुष्य होने के नाते अपने कर्त्तव्यों को सुखी मनुष्य भूल जाता है । सुख उसे अहंकार की ओर ले जाकर उससे अहंकार-जन्य पाप करवाता है । दुःख ही उसे सतर्क और तत्पर बनाता है ।

इसलिए दुःख ही सच्चा मित्र है । अच्छे कर्मों के संचित मूलधन को सुख खर्च कर देता है और हीन प्रवृत्तियों को उकसाता है । वास्तव में सच्चा दुश्मन यही है । मनुष्य को वास्तविकता का ज्ञान दुःख ही दिलाता है, वही विचार शक्ति को विकसित कर आत्मोन्नति करता है । नये व अमूल्य अनुभव देता है । सुख तो सशक्त और दृढ़ बनाने वाले अनुभवों पर पर्दा डाल देता है । इसीलिए कष्ट और दुःख को मित्र मानना चाहिए; कम से कम दुश्मन तो नहीं समझना चाहिए । श्रेष्ठ तो यही होगा कि सुख और दुःख दोनों को भगवान् का दिया उपहार ही समझा जाये । व्यक्ति के लिए मुक्ति का सबसे सरल मार्ग यही है ।

इसे न जानना ही मूल अज्ञान है । ऐसा अज्ञानी व्यक्ति अंधा है । वास्तव में सुख और दुःख एक अंधे आदमी और एक आँखों वाले आदमी की तरह हैं । अंधे के साथ आँख वाले का भी स्वागत होता है क्योंकि वह सर्वदा उसके साथ रहता है । इस प्रकार सुख और दुःख भी अलग नहीं हो सकते । इनमें से एक का स्वागत और दूसरे का त्याग नहीं किया जा सकता, कष्ट से सुख या मूल्य बढ़ता है । दुःख के बाद सुख आने पर प्रसन्नता बढ़ती है । अर्जुन को सब द्वन्द्व विरोधी अवस्थाओं की निरर्थकता का ज्ञान कराते हुए कृष्ण ने इस प्रकार कहा ।

तब अर्जुन ने पूछा, "माधव ! आपकी सलाह मानकर आवश्यक तितिक्षा पुष्ट की भी जाये तो उससे क्या लाभ ? केवल धैर्य एवं सहनशीलता ही तो प्राप्त होगी ? लेकिन ऐसी प्राप्ति से लाभ क्या मिलेगा ?"

कृष्ण ने उत्तर में कहा, "कुन्तीपुत्र ! वीर पुरुष दृढ़ रहकर तूफानी जीवन समुद्र की लहरों के उतार-चढ़ाव से लेशमात्र भी विचलित नहीं होता । ममत्व भाव उसके

स्वभाव का एक अंग होने से, चाहे कैसा प्रलोभन हो या विघ्न आये, वह अपना संतुलन न खो मानसिक संशय के नियम पालता है । बाह्य संसार की नित्य प्रत्यक्ष विद्यमानता से जो अप्रभावित रहता है वही व्यक्ति बुद्धिमान है । उसी को 'धीर' कहा जाता है ।"

"धी" का अर्थ है "बुद्धि" । जिसमें यह गुण है वही पूर्ण 'पुरुष' है । पुरुष की पहचान वस्त्र या मंछों मे नहीं होती । जो द्वन्द्वात्मक जगत् के परे रहता है वही पुरुष है । ऐसी पदवी पाने के लिए उसे बाह्य शत्रुओं के बदले आंतरिक शत्रुओं पर विजय पानी चाहिए । सुख और दुःख के इन युग्म शत्रुओं पर विजय पाना ही वीरता है ।

अच्छा! तुम्हारे मन में एक और संदेह उठा होगा । तुम अब भी पूछोगे, "ऐसी विजय से क्या लाभ होगा!" मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूँ कि इससे तुम्हें अमरता प्राप्त होगी । संसार की कोई भी वस्तु ऐसा परमानन्द नहीं दे सकती । उनसे केवल आंशिक सुख मिल सकता है लेकिन पूर्ण परमानन्द नहीं । जब तुम सुख और दुःख से परे, उससे ऊँची अवस्था को प्राप्त करते हो तभी पूर्ण, स्वतंत्र, परमानन्द का लाभ पा सकते हो । अर्जुन! तुम पुरुषों में श्रेष्ठ हो, इसलिए तुम्हें क्षुद्र सांसारिक शत्रुओं पर विजय पाने की आवश्यकता नहीं है । तुम तो अमरता का परम सुख पाने योग्य हो"। ऐसा कहकर कृष्ण उसे आत्मा और अनात्मा के विज्ञान को समझाने लगे । उन्होंने उसे ऐसा उपदेश दिया जिससे इन दोनों के बीच का अन्तर समझ में आ जाये ।

आत्म-ज्ञानी कर्म के परिणामों से बँधा नहीं होता; जो लोग आत्म चैतन्य (कर्म, भावना या विचार से अप्रभावित आत्मा रूप) का बोध न रख कर्म करते हैं, वही कर्म-फल से लिप्त रहते हैं । ज्ञानी एक कुशल तैराक की तरह सांसारिक कर्मों के सागर को निर्भयता से पार कर लेता है । तैरने की कला को सीखे बिना ही यदि तुम समुद्र में जाओगे तो तुम्हारी पानी में डूबकर निश्चित ही मृत्यु हो जायेगी ।

इससे पता चलता है कि कृष्ण ने अर्जुन को आत्मज्ञान की प्रधान विद्या क्यों सिखाई । आत्मा किसी को मारती नहीं है और न स्वयं मरती है । जिनका यह विश्वास है कि यह मारती है या मरती है उन्हें इसके स्वभाव का ज्ञान नहीं है । अर्जुन

की आत्मा मारती नहीं है, भीष्म और द्रोण की आत्मा मरती नहीं है, कृष्ण की आत्मा उत्तेजना नहीं देती ! यह सब कारण-परिणाम चेतना के रूप हैं, आत्मा किसी भी कर्म का कारण या परिणाम नहीं हो सकती वह तो निर्विकार है, अपरिवर्तनशील है ।

रूपान्तरण के छः प्रकार हैं : उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि, परिवर्तन क्षय और लय । इनको षट्-विकार कहते हैं । जन्म या उत्पत्ति का अर्थ है, कभी वह "नहीं था" और कुछ देर पश्चात् "है" । जब वह "है" और "नहीं है" हुआ, तब उसको "मरणम्" कहा गया । जिस वस्तु में चेतन है उसी का जन्म होता है । अचेतन का नहीं । लेकिन आत्मा निरअवयव है । उसका जब जन्म ही नहीं, तो वह मर कैसे सकती है ? मारेगी भी किसे ? वह तो अजन्मा और नित्य है ।

जिस प्रकार एक व्यक्ति पुराने वस्त्र उतारकर नये वस्त्र पहन लेता है, देही भी एक शरीर उतारकर दूसरा धारण कर लेता है । शरीर के लिए जिस प्रकार वस्त्र है, उसी प्रकार व्यक्ति के लिए शरीर है । आत्मा के सत्य स्वरूप को समझ लेने पर तुम शोक नहीं करोगे । तुम्हारे यह सब शस्त्र केवल स्थूल शरीर को हानिकर हैं, वे अपरिवर्तनशील आत्मा को कोई हानि नहीं पहुँचा सकते । इस सत्य को समझो और शोक का त्याग करो ।

क्षत्रिय का मुख्य कर्त्तव्य धर्म का पक्ष लेकर अधर्म का नाश करना है । सोचो, कितने भाग्यशाली हो तुम ! इस युद्ध क्षेत्र में भीष्म और अन्य कितने योग्य व्यक्ति तुम्हारे शत्रु हैं । एक समय इसी भीष्म ने अपने ब्राह्मण गुरु परशुराम से, जिन्होंने इसे सब कलाओं में निपुण बनाया था, अपने क्षत्रिय धर्म के पालन के लिए ही युद्ध किया और अब, तुम एक कायर की तरह ऐसे पराक्रमी योद्धाओं के विरुद्ध शस्त्र उठाने में भी डरते हो ? अनेक विघ्नों के होते हुए भी एक क्षत्रिय के लिए अपने धर्म की रक्षा ही कर्त्तव्य होता है । उन्नति का यही मार्ग है ।

क्षतम् का अर्थ है "दुःखम्" और क्षत्रिय वही है जो मनुष्यों को दुःखों से बचाता है । धर्म का पक्ष लेकर अधर्म की शक्तियों के विरुद्ध युद्ध करने का ऐसा मौका मनुष्य को यदा-कदा ही मिलता है । एक क्षत्रिय होने के नाते इस धर्म युद्ध में हिस्सा लेना तुम्हारे लिए वरदान स्वरूप है । संसार की जो सेवा, तुम अभी करने जा रहे हो वह कितनी प्रशंसनीय होगी इसका विचार करो । संसार में शान्ति और सौख्य की स्थापना के लिए जो युद्ध किया जाता है उसे धर्म युद्ध कहते हैं; यह संघर्ष ऐसा

ही है जिसमें धर्म की जीत निश्चित है ।

कौरवों ने कोई पाप, कोई अन्याय और कोई दुष्टता नहीं छोड़ी । उन्होंने बड़ों का निरादर किया, धर्मात्माओं का त्याग किया, पवित्रता को कलंकित, सज्जनों के स्वाभिमान को आघात पहुँचाया । उनके अगणित कुकृत्य हैं । अब बदला लेने का समय आ पहुँचा है; अपने पापों का फल वे अब भोगने वाले हैं और यदि अब इस समय तुम एक भीरु की तरह व्यवहार करोगे तो न केवल तुम्हारे माता-पिता, सब भाई, बल्कि सम्पूर्ण क्षत्रिय जाति के लिए यह एक अपमानजनक बात होगी ।

तुम सोचते होंगे कि युद्ध करना पाप है । ऐसा विचार एक बहुत बड़ी भूल है । पाप तो दुष्टों को नष्ट करने का मौका हाथ से जाने देने में है, सज्जनों की यातना बढ़ने देने में है । इस समय यदि तुमने अपना धर्म छोड़ा तो तुम्हें घोर निराशा का भय घेर लेगा । धर्म के पालन करने से तुम्हें पाप छू भी नहीं सकता । मन को स्थिर रखो; संसार के सब द्वन्द्वों में किसी एक को भी पास मत आने दो । इस अध्याय में इकत्तीसवें श्लोक से लेकर अगले आठ श्लोकों में कृष्ण ने इस स्वधर्म-निष्ठा के बारे में कहा है ।

भाग्य अच्छा हो या बुरा, निश्चल मन से व्यक्ति को कार्य करते रहना चाहिए । सैंतीसवें श्लोक में कृष्ण की यही शिक्षा है । उन्तालीसवाँ श्लोक विषय-परिवर्तन श्लोक है क्योंकि "एषा तेऽभिहिता सांख्ये" (मैंने तुम्हें सांख्य योग के विषय में कहा) कृष्ण कहते हैं कि वे योग बुद्धि या बुद्धियोग की शिक्षा देंगे जिसे वह ध्यान से सुने ।

बुद्धि से युक्त होकर, उसकी पूर्ण चेतनता में कर्म-फल की प्राप्ति के त्याग को कृष्ण "बुद्धियोगम्" कहते हैं । बुद्धि, शुद्ध और प्रशिक्षित करनी होगी; अन्यथा कर्म-फल मोह का त्याग और कार्यों को कर्त्तव्य या समर्पण समझकर करना असंभव हो जायेगा । ऐसी शुद्ध बुद्धि का नाम "योगबुद्धि" है । इसको पुष्ट कर अपने को कर्म के बंधनों से मुक्त करो । सत्य तो यह है कि तुम, वास्तविक 'तुम', कर्म से ऊँचे और परे हो ।

तुम यह कहते हो कि कर्म के फलों का त्याग करना कठिन है इससे तो मैं कर्म ही नहीं करूँगा । लेकिन यह असम्भव बात है । कर्म करना अनिवार्य है । कोई

न कोई कार्य तो करना ही होता है । एक क्षण के लिए भी कोई अपने को कर्म से रहित नहीं कर पाता "न हि कश्चित्क्षणमपि" गीता के तीसरे अध्याय में कृष्ण ने कहा है ।

"अर्जुन ! प्रत्येक कार्य या कर्म का आरम्भ और अन्त होता है । लेकिन निष्काम कर्म आरम्भ व अन्त रहित हैं । दोनों में यही भेद है । जब लाभ प्राप्ति की इच्छा से कर्म किया जाता है तब व्यक्ति को हानि, दुःख और दण्ड भी भुगतना पड़ता है । लेकिन निष्काम कर्म तुम्हें इन सबसे मुक्त रखता है ।

कर्मफल की इच्छा करने से इच्छा के चक्कर में पड़ तुम्हें बार-बार जन्म लेना पड़ता है; लेकिन इस इच्छा का त्याग करने से तुम जन्म-मरण के चक्र से मुक्त हो जाओगे । इस प्रकार के त्याग के अभ्यास से तुम्हारी बंधनमुक्त अवस्था हो जायेगी । मुख्य बात तो लक्ष्य पर दृढ़ रहना है । लक्ष्य कर्म है, कर्म-फल नहीं । मैं यह भी तुम्हें बताता हूँ कि कर्मफल प्राप्ति की इच्छा होना रजोगुण सूचित करता है, जो कि तुम्हारे लिए शोभनीय नहीं है । शायद तुम कर्म-रहित रहना ही पसन्द करो । लेकिन यह तो तमोगुण का लक्षण है । यह रजोगुण से भी नीचा है । भगवान् की चार आज्ञायें हैं; प्रथम 'करो' है और अन्य तीन "मत करो" हैं । प्रथम शक्ति बढ़ाने के लिए है और अन्य निर्बलता दूर करने के लिए हैं ।

ध्यान रहे, केवल अर्जुन को ही यह उपदेश नहीं मिला । मानव मात्र को इसकी आवश्यकता है । अर्जुन तो मानवमात्र का प्रतिनिधि है । गीता के विद्यार्थी को प्रथम तो यह जानना है कि प्रधानतया गीता प्रत्येक साधक के लिए है ।

दूसरी ध्यान देने योग्य बात यह है कि गीता मनुष्य के प्रति कही गई है, पशु, पक्षी, देवताओं और देवों के लिए नहीं । इच्छाओं द्वारा प्रेरित मनुष्य फल की कामना से कार्य करता है, कार्य से फल की प्राप्ति न हो तो वह कार्य करेगा ही नहीं । लाभ, पुरस्कार, फल, मनुष्य यही तो खोजता है । लेकिन यह नियम उनके लिए नहीं कहा गया है जो गीता को अपने हाथों में भगवान् का धर्मोपदेश पाने की इच्छा से लेते हैं । सभी अमृत नहीं चाहते और यदि तुम चाहते हो तो यह प्रत्यक्ष है कि तुम अनन्त सुख, अनन्त मुक्ति प्राप्त करना चाहते हो । तब तुम्हें कर्म-फल इच्छा का त्याग और भगवान् के चरणों में सर्वस्व समर्पण कर उसका मूल्य चुकाना होगा ।

पाँचवाँ अध्याय

यदि तुम्हारी इच्छा कर्मफल की प्राप्ति की होगी तो सम्भव है, चिन्ता, व्याकुलता और उद्विग्नता का तुम पर प्रभाव पड़े । फिर प्रश्न उठेगा कि फल की इच्छा का त्याग करने से जी कैसे सकेंगे ? लेकिन ऐसी हृदय की दुर्बलता क्यों ? घबराहट क्यों ? जिसने तुम्हें "योग क्षेम वहाम्यहम्" कह कर सांत्वना दी है, वह अवश्य इसका ध्यान रखेंगे । जीवन निर्वाह का उपाय और साधन वही बतायेंगे फिर भी तुम्हें सोचना होगा कि "सुखी जीवन अधिक आवश्यक है या जीवन-मृत्यु के चक्र से मुक्त होना"! जीवन के सुख क्षणिक होते हैं, किन्तु मुक्ति का सुख नित्य निरन्तर है ।

अनेक टीकाकारों ने इस विषय पर अपनी-अपनी समझ के अनुसार अलग-अलग लिखा है । इनमें से अधिकतर ने कर्म-फल-त्याग को इसलिये उचित कहा कि, कर्म करने वाले को फल की इच्छा करने का अधिकार नहीं है और इसलिए कर्म-फल-त्याग ही उचित है ।

यह भी एक गहरी भूल है । भगवान् ने गीता में बताया है, "फल को अस्वीकार करो' (मा फलेषु) अर्थात् कर्म से फल तो मिलता ही है । लेकिन कर्त्ता को फल की इच्छा से या उसकी फल प्राप्ति को ही दृष्टि में रखकर कार्य नहीं करना चाहिए । यदि कृष्ण का आशय यह होता कि कर्ता को फल प्राप्ति का अधिकार नहीं है तो उन्होंने कहा होता, "इसका फल नहीं है" ना फलेषु (ना का अर्थ नहीं) इसलिए यदि तुम कर्म ही न करो तो यह भगवान् के निर्देशों का उल्लंघन और एक गंभीर भूल होगी ।

मनुष्य को जब कर्म करने का अधिकार है तो उसका फल-प्राप्ति पर भी अधिकार है । इस अधिकार को कोई भी अमान्य या अस्वीकार नहीं कर सकता । लेकिन फिर भी कर्त्ता स्वेच्छापूर्वक व दृढ़ता से अपने कर्म या बुरे फल से प्रभावित होना अस्वीकार कर सकता है । गीता मार्ग-दर्शन करती है, "कर्म करो" फल को अस्वीकार करो ।" कर्म के फल की इच्छा करना रजोगुण का लक्षण है । फल से कोई लाभ नहीं मिलेगा ऐसा सोचकर कर्म ही का त्याग करना, तमोगुण का लक्षण है । कर्म से फ़ल प्राप्ति होगी यह जानते हुए भी उस फल की प्राप्ति में आसक्ति न रखना ही सत्वगुण है ।

जिस कर्मयोगी ने, "कर्म और उसके फल त्याग" के रहस्य को समझ लिया है, उसमें संगबुद्धि की अपेक्षा समबुद्धि अधिक होती है । क्योंकि संगबुद्धि सांसारिक झंझटों और आसक्तियों की ओर खींचती है; यह मेरे प्रयत्नों का फल है; मेरा इस पर अधिकार है; ऐसे विचारों से कर्ता बंध जाता है । कृष्ण समझाते हैं कि व्यक्ति को संगबुद्धि से ऊँचे उठना चाहिए । उन्होंने समत्व को ही सच्चा योग घोषित किया (समत्वम् योगमुच्यते) ।

दूसरे अध्याय में कृष्ण ने, सामान्य रूप में, चार मुख्य विषय स्पष्ट किये हैं : (१) शरणागति सिद्धान्त, (२) सांख्य उपदेश, (३) योग अवस्था, (४) स्थितप्रज्ञता । पहले तीन की व्याख्या हो चुकी है । अब चौथे के बारे में .

अर्जुन के पूछने पर, कृष्ण ने स्थितप्रज्ञ के स्वभाव व चरित्र की विशिष्टता के बारे में शिक्षा दी । अर्जुन ने प्रार्थना की, "हे केशव !" अपने इस विशिष्ट नाम प्रयोग से कृष्ण मुस्कराये, और उन्होंने जान लिया कि अब अर्जुन परमात्मा की महत्ता को समझ गया है और बोले, "तुम पूछते हो, 'कैसे' ?" अच्छा, केशव का अर्थ क्या है ? इसका अर्थ है, "वह जो ब्रह्मा, विष्णु, शिव त्रिमूर्ति है ।" कृष्ण की कृपा से अर्जुन साधना की इस अवस्था तक पहुंच गया और तब अर्जुन ने स्थितप्रज्ञ के सच्चे लक्षण जानने की आग्रहपूर्वक प्रार्थना की तब उन्होंने उत्तर दिया, स्थितप्रज्ञ सब इच्छाओं से मुक्त रहकर केवल आत्मज्ञान और आत्मचैतन्य में स्थिर रहता है ।

इसकी दो विधियाँ हैं । मन में उठने वाली इच्छाओं की सब उत्तेजनाओं का त्याग निषेधात्मक विधि है । मन में नित्य निरंतर आनन्द स्थिर रखना पूर्ण धनात्मक विधि है । निषेधात्मक किया मन की बुराइयों और दुष्टता के सब बीज हटाने के लिये है । इस प्रकार शुद्ध किये गये क्षेत्र में भगवान् के प्रति आसक्ति उत्पन्न करके तुम्हारे लिये आवश्यक कृषि की फसल उत्पन्न करने के लिए पूर्ण विधि है । घास-पात उखाड़ फेंकना निषेधात्मक क्रिया है । बाह्य पदार्थ विषयक संसार से इन्द्रियों द्वारा प्राप्त सुख घास-पात की तरह हैं । कृषि की उपज भगवान् में आसक्ति है । मन इच्छाओं की गठरी है, इन इच्छाओं को जब तक जड़ से उखाड़ कर फेंका नहीं जायेगा, मन को नष्ट करने की आशा व्यर्थ होगी । आध्यात्मिक उन्नति के मार्ग में मन ही बाधा पहुँचाता है । तंतुओं के बने कपड़े में से यदि एक-एक तन्तु

निकाल दिया जाये तो कपड़े में से क्या बचा रहेगा ? कुछ भी नहीं । मन इच्छाओं का ताना-बाना है । मनोनाश होने से ही स्थितप्रज्ञता प्राप्त होती है ।

इसलिए सबसे पहले आसुरी इच्छा, काम को जीतना चाहिए । इसके लिए घोर संघर्ष या इसे हटाने के लिए मीठे शब्दों के प्रयोग की आवश्यकता नहीं । इच्छाएँ किसी के डर से या किसी पर कृपा दिखाने के लिए नहीं हटती । इच्छाए बाह्यवस्तु विषयक हैं, वे दृश्य की श्रेणी की हैं । इस दृढ़ विश्वास पर "कि मैं केवल द्रष्टा हूँ, दृश्य नहीं" स्थितप्रज्ञ अपने को मोह के बन्धन से छुड़ा लेता है । इस प्रकार वह इच्छा पर विजय प्राप्त कर लेता है । मन की क्रिया का तुम बाहर से निरीक्षण करो; मन में लिप्त मत होओ । इस शिक्षा का यही अर्थ है ।

मनःशक्ति एक प्रबल विद्युत शक्ति की तरह है । इसको दूर से ही देखना चाहिए; इसको छूना या सम्पर्क में नहीं आना चाहिए । छूकर देखो ; तुम्हारी राख बन जायेगी । इसी प्रकार सम्पर्क या मोह से, मन को तुम्हें नष्ट करने का मौका मिल जाता है । तुम्हारा इससे दूर ही रहना अच्छा है । चतुराई से अपनी भलाई के लिए ही इसका उचित उपयोग करना चाहिए ।

जिस परमसुख में स्थितप्रज्ञ डूबा रहता है वह उसे बाह्य वस्तुओं से नहीं मिलता; और उसे बाह्य सुख की आवश्यकता भी नहीं है । आनन्द, प्रत्येक के स्वभाव का हिस्सा है । जिनके चित्त शुद्ध हैं उन्हें आत्मा में, आत्मसाक्षात्कार द्वारा ही परम आनन्द मिलता है । यह आनन्द निज की कमाई है । यह प्रत्यक्ष है कि इसका अनुभव व्यक्ति स्वयं ही करता है ।

अर्जुन यह नहीं जानता था इसलिए कृष्ण ने ५६, ५७ और ५८ वें श्लोकों द्वारा इस विषय को सरल तरीके से स्पष्ट किया । सुख या शोक का तीन प्रकार से सामना किया जाता है -- (१) आध्यात्मिक, (२) आधिभौतिक, (३) आधिदैविक । सब जानते हैं कि पाप से दुख और सत्कार्यों से सुख प्राप्त होता है । इसलिए अच्छे कार्य करने की और पाप न करने की सलाह दी जाती है । लेकिन जो स्थितप्रज्ञ है उसे न तो दुःख की पीड़ा और न आनन्द का रोमांच अनुभव होता है; वह न तो किसी से घृणा करता है न किसी से स्नेह; न वह दुःख आने पर पीछे हटता है न सुख प्राप्ति के लिए आगे लपकता है । जिन्हें आत्मज्ञान नहीं है वही सुख आने पर प्रफुल्लित और दुःख पड़ने पर मुरझा जाते हैं ।

स्थितप्रज्ञ हमेशा मनन, चिंतन या ध्यान में ही लीन रहता है, उसे मुनि कहते हैं। उसकी बुद्धि स्थिर है क्योंकि इन्द्रियाँ उसे परेशान नहीं कर सकतीं। यहाँ एक बात पर ध्यान देना आवश्यक है। साधना के लिए इन्द्रियों पर विजय पाना अनिवार्य है। और यही नहीं, जब तक बाह्य-वस्तु-विषयक संसार की ओर मन खिचता रहेगा, इन पर पूर्ण विजय पाना कठिन है। इसलिए कृष्ण ने कहा, "अर्जुन! इन्द्रियों को अपने आधीन करो, क्योंकि फिर तुम्हें कोई भय नहीं रहेगा और वे दंतविहीन सर्प जैसी बन जायेंगी। तुम्हें बाह्य वस्तुओं की ओर खींचने वाले विचार और प्रवृत्तियों से खतरा रहता है। इच्छाओं की सीमा नहीं; उन्हें कभी संतुष्ट नहीं किया जा सकता।

इसलिए, इन्द्रियों को आधीन करने के साथ ही मन को भी आधीन करना चाहिए। स्थितप्रज्ञ का यही लक्षण है। ऐसी दोहरी विजय जिसे न मिल सके उसे गत प्रज्ञ कहना चाहिए स्थितप्रज्ञ नहीं। (ऐसा व्यक्ति अ-ज्ञानी है, स्थिर-ज्ञानी नहीं) गतः प्रज्ञ की क्या गति होती है? घोर निराशा और अधःपतन; इसके सिवाय और क्या हो सकेगा।

स्थितप्रज्ञ के लिए इन्द्रियों पर विजय और मनोनाश यही श्रेष्ठ अवस्था और श्रेष्ठ उपाय है। इन्द्रिय और मन को जीतने के बदले यदि केवल मन पर विजय पा ली जाये तो भी पर्याप्त है। क्योंकि तब इन्द्रियों पर विजय पाना आवश्यक नहीं रह जाता। यदि मन का वस्तु में मोह ही न हो तो इन्द्रियों को कोई सहारा नहीं मिलेगा। भोगों के अभाव से अशक्त होकर वे नष्ट हो जायेंगी। प्यार और तिरस्कार के द्वन्द्व का भी भूख और प्यास से अन्त हो जायेगा। इस प्रकार होने से बाह्य सांसारिक संबंध टूट जाते हैं, इन्द्रियाँ तब भी इससे प्रभावित रह सकती है। लेकिन जिसको आत्मज्ञान का सुख मिल चुका है उसे कोई भी सांसारिक वस्तु कैसे शोक या आनन्द दे सकती है?

सूर्य के निकलने पर जिस प्रकार तारे फीके पड़कर लुप्त हो जाते हैं उसी प्रकार आत्मज्ञान रूपी सूर्य के उदय होने पर शोक, घबड़ाहट और अज्ञान लुप्त हो जाते हैं।

मनुष्य के पास तीन मुख्य साधन हैं: मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ। इन तीनों में जब ऐक्य होता है और वे एक दूसरे का सहयोग पाती हैं तब या तो वे व्यक्ति को

अपने "प्रवाह" में डूबो लेती हैं या "आत्मज्ञान" द्वारा मुक्त करती हैं । कृष्ण जान गये कि अर्जुन यह जानने को आतुर होगा कि कौन, किसके साथ, कब सहयोग देगा और तब क्या-क्या होगा । भगवान् ने इसका उत्तर दिया, "अर्जुन ! जब मन इन्द्रियों को सहयोग देता है, तब तुम ऐसे प्रवाह में आते हो जिसे संसार कहते हैं और मन जब बुद्धि की आज्ञानुसार चलता है तब तुम्हें आत्मज्ञान की प्राप्ति होती है । एक मार्ग संसार प्राप्ति को जाता है, दूसरा आत्म प्राप्ति को । बुद्धि को दृढ़ निश्चयी होना चाहिए और मन को इसके निश्चय का दृढ़ता से पालन करना ही चाहिए, यही उपाय उचित है ।

पूर्णतया इन्द्रिय-निग्रह करना ही चाहिए । व्यक्ति की स्थितप्रज्ञता का यही प्रधान लक्षण है । इसलिए जब सब के लिए रात्रि होती है, स्थितप्रज्ञ जागृत रहता है और जब सब जागृत रहते हैं, स्थितप्रज्ञ सोता है" । शब्दानुसार इसका अर्थ होगा कि एक के लिए जो रात्रि है, वह दूसरे के लिए दिन है; ऐसा कहना हास्यास्पद भी लगेगा और अर्थ यह निकलेगा कि स्थितप्रज्ञ वह है जो दिन में सोता है और रात में जागता है ।

लेकिन इस कथन का आन्तरिक अर्थ बहुत गहरा है । इन्द्रिय विषयक सासारिक मामलों में साधारण मनुष्य बहुत सचेत रहता है । उनकी ऐसी सतर्कता जो कि इन्द्रिय विषयक वस्तुओं का पीछा करने में रखी जाती है उसे उनकी 'जागृति' कहा है । लेकिन इसके विपरीत स्थितप्रज्ञ का ऐसे लगाव से कोई सम्बन्ध नहीं होता, तो इसे कहा जाय कि "तब वह सोता है ।" सोने का अर्थ क्या है ? इन्द्रिय निग्रह से जो आनन्द प्राप्त होता है यही इसका अर्थ है । और जागृति क्या है ? यहां जागृति का अर्थ है, इन्द्रियों द्वारा पराजित होना, उनकी सब मांगें पूरी करना । जब साधारण व्यक्ति इन्द्रियों की मांग की पूर्ति में लगे रहते हैं, स्थितप्रज्ञ 'सोता' है । दूसरे शब्दों में इसका अर्थ हुआ कि तुम यदि आत्मस्थिति को भूल जाओगे तो देह-स्थिति में गिर जाओगे, आत्म-चैतन्य से देह चैतन्य में दुबारा तुम्हारा पतन हो जायेगा ।

साधारण व्यक्ति के साथ यही होता है कि वह आत्म-स्थिति के समय सोता है और देह-स्थिति के समय जगता है । स्थितप्रज्ञ के साथ ऐसा नहीं होता । वह देह-चैतन्य अवस्था में सोता है और आत्म-चैतन्य की अवस्था में जागृत होता है ।

साधारण व्यक्ति जिसमें अत्यधिक सतर्क रहता है ऐसे इन्द्रिय विषयक संसार में वह भूले से भी जागृत न होगा । यही इसका आन्तरिक अर्थ है । शब्दानुसार इसके अर्थ को सच माना जाये तो चोर, चौकीदार इत्यादि को ही स्थितप्रज्ञ नाम प्राप्त हो सकता है ! क्योंकि ये सब रात में जगते हैं और दिन में सोते हैं । वही लोग जिन्होंने इच्छाओं की छाया तक नष्ट कर दी है और साधन मात्र बन गये हैं, शान्ति प्राप्त कर सकते हैं । "कामनात्याग" को ही विशिष्टता देकर कृष्ण स्थितप्रज्ञ का वर्णन समाप्त करते हैं ।

दूसरे अध्याय में माधव ने इस सांख्य योग की शिक्षा ऐसे दुःखी मनुष्य को दी जो कि इस जीवन रूपी युद्ध क्षेत्र में, आकर्षणों और प्रतिकर्षणों के बीच में भ्रमित हो यह भी नहीं जानता कि किधर घूमे, कौन सा मार्ग ले । अन्य अध्याय इस उपदेश पर की गई व्याख्या की तरह हैं । कृष्ण ने कहा – "अर्जुन ! मनोनाशः के लिए तत्पर हो जाओ, अपने आत्म-तत्व में विलीन होने की तैयारी करो । शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध इन पंचतत्वों की श्रेणी से मन को वापस हटा लो । तब तुम स्थितप्रज्ञता प्राप्त कर लोगे ।" इस दूसरे अध्याय में (११ वें से ३० वें श्लोक तक) आत्म-तत्व को अत्यन्त सरल ढंग से कृष्ण ने समझाया है ।

३९ वें से ७५ वें श्लोकों में उन्होंने परम-तत्व, अर्थात् परमात्मा की प्राप्ति के लिए आवश्यक धर्म-कर्म भाव की शिक्षा दी है । इस भाव का आधार कर्मयोग है जो पूर्वनिर्दिष्ट समता-बुद्धि में सन्निहित है ।

छठवाँ अध्याय

दूसरे अध्याय के सत्रह श्लोकों में ५६वें से ७२वें श्लोकों तक कृष्ण ने स्थितप्रज्ञ के गुण और इस अवस्था की श्रेष्ठता का वर्णन किया और कहा कि उन्होंने स्वय निष्ठा की प्राप्ति के लिए ज्ञानयोग को ज्ञानियों और कर्मयोग को योगियों के

लिए निर्धारित किया है । उन्होंने यहाँ कर्म योग की महत्ता समझाई ।

प्रत्येक व्यक्ति के लिए प्राकृतिक आवश्यकताओं का आदर रखते हुए कर्म में व्याप्त रहना अनिवार्य है । इसलिए कृष्ण ने कहा--"अपने कर्त्तव्य-कर्म करो । कर्त्तव्याधीन कर्म करो । कर्म करते रहना, कर्म न करने से अधिक उचित है । यदि तुम कर्म नहीं करोगे तो जीने का कार्य कठिन ही नहीं, असंभव भी हो जायेगा" ।

जो कर्म परिणाम में बंधनदायक नहीं हैं, उन्हें यज्ञ कहा जाता है । अन्य सब कर्म बंधनकारी है" । ओह ! अर्जुन ! सब मोह छोड़कर, प्रत्येक कार्य को भगवान् को समर्पित यज्ञ मान कर करो" । कृष्ण ने अर्जुन को कर्म के उत्पत्ति स्थान, कर्म की जड़, जहाँ से कर्म करने की उत्कंठा निकलती है और बढ़ती है, उस पर उपदेश दिया । उन्होंने इसे इतना स्पष्ट समझाया कि अर्जुन का हृदय वास्तव में प्रेरित होकर बदलने लगा । "वेदों की उत्पत्ति परमात्मा से, वेद से कर्म, कर्म से यज्ञ, यज्ञ से वर्षा और वर्षा से अन्न उत्पन्न हुआ; इस प्रकार अन्न से सब जीवित प्राणी बने । इस कालक्रम को आदरपूर्वक मानना ही होगा ।

अर्जुन ! इस पर विचार करो । मुझे कोई कर्म करना आवश्यक नहीं है । नहीं, पूरे त्रिलोक में कहीं भी नहीं । मैं किसी बंधन में नहीं हूँ । फिर भी मैं कर्म में व्यस्त हूँ । इस पर ध्यान दो । यदि मैं कर्म न करूँ तो संसार ही नहीं रहेगा । आत्मा में दृढ़ विश्वास रखो । फिर अपने सब कर्म मुझे समर्पित कर दो । कर्म के फल की इच्छा के बिना, अधिकार भावना या अहंकार रहित होकर युद्ध करो," कृष्ण ने कहा ।

सृष्टि-चक्र को सुव्यवस्थित ढंग से संचालित रखने के लिए प्रत्येक को कर्म करते रहना चाहिए । कोई भी व्यक्ति कर्म के कर्त्तव्य से हट नहीं सकता । श्रेष्ठतम ज्ञानी को भी इस नियम का पालन करना पड़ता है । खाना, पीना, श्वास लेना, निःश्वास छोड़ना यह भी सब कर्म ही है । इसके बिना कौन रह सकता है ?

संसार और समाज दोनों से तुम्हें लाभ मिलता है और इसके बदले में उनके लिए कोई न कोई कार्य करते रहना होता है । यह ब्रह्मांड, यह विश्व वास्तव में एक बहुत बड़ा कारखाना है और प्रत्येक व्यक्ति इस संगठन का एक अवयव है । इस अवयव को उसकी योग्यतानुसार कार्य सौंपा जाता है, और उसी विशिष्ट कार्य को

करने में ही उसे आत्म-तुष्टि मिलनी चाहिए । सौंपा हुआ कार्य भगवान् के लिए एक भेंट समझकर ही करना चाहिए, विश्व-भर में कोई वस्तु नहीं जो इस महान् कार्य में योग नहीं दे रही है । पौधे, जन्तु, पत्थर, लकड़ी, हवा, वर्षा, गर्मी, सर्दी यदि निश्चित व्यवस्थानुसार कार्य न करें तो संसार चल नहीं सकता । सूर्य और चन्द्र अपने नियमित कार्य करते रहते हैं । हवा और अग्नि को अपने कर्त्तव्य बिना आपत्ति उठाये करने पड़ते हैं । यदि पृथ्वी और सूर्य अपने सौंपे हुए कर्त्तव्यों को न करें तो संसार का क्या होगा ? इसलिए संसार में ऐसा कोई नहीं जो शरीर धारण किए हो और कर्म न करता हो । सावधानी से सफलतापूर्वक जब सभी अपना कर्त्तव्य करते हैं तभी सृष्टि-चक्र शीघ्र और सरलता से चलता है ।

"तुम विस्मय करोगे कि ज्ञानियों को भी कर्म क्यों करना चाहिए ? तुम नहीं, अन्य भी इस कथन से चिन्तित हो रहे होंगे । ठीक है, लेकिन साधारणतया श्रेष्ठ स्तर के व्यक्तियों के अनुकरणीय उदाहरणों पर ही लोग चलते हैं । इनके कार्य सब लोगों के लिए धर्म का आधार बन जाते हैं । यदि ज्ञानी कर्म न करें तो साधारण मनुष्य अपनी रक्षा कैसे कर सकेंगे ? उनका कोई मार्गदर्शक न होने से वे इन्द्रिय-सुख के सुलभ कार्य में भटक जाएंगे । ज्ञानी का कर्त्तव्य है कि उचित कार्यों को कर, उन्हें उदाहरण रूप में लोगों के सामने स्थापित करें, जिससे वे भी उसकी ही तरह संतोष और सुख पाने की आशा में ज्ञानी का उदाहरण अपने आचरणों में उतारने के लिए प्रेरित हों । ज्ञानी को कर्म करना, अनुभव करना और उसे आचरण में उतार कर औरों को मार्ग दिखाना है जिससे वे उसका अनुसरण करने के लिए प्रोत्साहित हों ।

"अर्जुन ! केवल एक यथार्थ पर ध्यान दो । तुम्हारे शरीर का तापमान इस समय कितना है ? शायद ९८ अंश होगा ; यह कैसे हुआ ? क्योंकि, इतनी दूरी पर सूर्य इससे अनेक करोड़ों गुना ताप झेल रहा है । ठीक है न ? अब यदि सूर्य सोचे कि इतनी ऊष्णता वह सहन नहीं कर सकता, और फिर यह ठंडा पड़ जाये तो मनुष्यों का क्या होगा ? पुनः यदि सृष्टि में और उसके द्वारा किये जाने वाले वृहत् विश्वकर्म के कार्यों को मैं न करूँ, तो कल्पना कर सकते हो कैसा अन्त होगा ? याद रखो, मैं इसी कारण कर्म करता हूँ । इसलिए नहीं कि इनसे मुझे कोई लाभ या भलाई मिले या अन्य कोई फल प्राप्त हो ।

ससार में लगभग प्रत्येक कर्म के नियम निर्धारित हैं । लेकिन लोग इतने अधिक अज्ञान में लीन हैं कि उन्हें अपनी नैतिक और बौद्धिक स्थिति और कर्म के रहस्य का बोध ही नहीं है । ऐसे लोग महान् लोगों के उदाहरण से प्रेरणा लेकर ही बच सकते हैं । इसीलिए ज्ञानी को कर्म करते रहना होता है; उसे साधारण मनुष्यों का आलस्य और भ्रम हटाना होता है । इसीलिए सभी को दृढ़ता-पूर्वक कर्म के नियम का पालन करना है ।

"क्या विमान पृथ्वी की अवहेलना कर आसमान में ही सदा उड़ता रहता है ? जिन्हें विमानों में बैठना है वे स्वयं ऊपर उठकर उसमें नहीं बैठ सकते । पूर्व निश्चित व्यवस्थानुसार अपने स्थानों पर एकत्रित यात्रियों को लेने विमान को पृथ्वी पर आना ही पड़ता है, और उन्हें बिठाकर वह पुनः उड़ान भरता है । इसी प्रकार ज्ञानी को कर्म करने की इच्छा या उत्कंठा नहीं रहती । फिर भी नीचे कर्मक्षेत्र में उसे ऐसे लोगों की मदद के लिए आना पड़ता है जो गुणसम्पन्न होते हुए भी अपने गुणों का उचित उपयोग बिना मार्गदर्शन के नहीं कर सकते । जनक जैसे श्रेष्ठ पुरुष को भी इसी कारण धर्म कर्मों को करना पड़ा । अश्वपति ने भी इसीलिए कर्म किया जिससे अन्य लोग निपट आलस्य या दुष्टता से बच सकें ।

तब अर्जुन के एक और प्रश्न का उत्तर कृष्ण ने दिया, "सब पापों की जड़ काम है" और उन्होंने इसके लक्षण, कारण और उपायों को विस्तृत रूप से स्पष्ट किया, "जो देहात्म बुद्धि से बँधा है उसे कर्म विजय की आशा छोड़ देनी चाहिए । ब्रह्मात्म बुद्धि प्राप्त करने पर ही कर्म पर निश्चित विजय होती है । प्रत्येक कार्य भगवान् को समर्पित भाव से ही करना चाहिए । समस्त संसार को विष्णु रूप ही समझना चाहिये जोकि जगदातीत हैं ।

इस अध्याय में तीन मुख्य विषयों को स्पष्ट किया गया है (१) कर्म सभी को करना होता है, नहीं तो संसार का अस्तित्व नहीं रहेगा (२) महान् पुरुषों के कर्म का आदर्श सामने रख अन्य सब कर्म करें (३) लगभग सभी कर्म के कर्त्तव्य से बधे हैं ।

कृष्ण की कृपा से अर्जुन ने यह शिक्षा प्राप्त की । इतने से ही संतुष्ट न हो कृष्ण ने उसे बताया कि कर्म का अन्तिम लक्ष्य और अन्तिम लाभ ज्ञान ही है । ज्ञान का कोष मनुष्य स्व-प्रयत्नों द्वारा, मन की शुद्धि और परमात्मा का अनुग्रह प्राप्त

करने के लिए जीतता है । ज्ञान से केवल आनन्द ही नहीं मिलता वरन् वह तो स्वय आनन्द का स्रोत है । इस प्रकार भगवान् ने अर्जुन को ज्ञानमार्ग की दीक्षा दी ।

पाँचवें अध्याय तक इसी विषय का विवरण है । भगवद्गीता के उपदेश मे ज्ञान योग एक अमूल्य रत्न की तरह चमकता है । कृष्ण ने सूचित किया, "नहि ज्ञानेन् सदृशं पवित्रमिहं विद्यते" (यहाँ ज्ञान के समान पवित्र अन्य नहीं जान पड़ता) । आगे, सातवें अध्याय में उन्होंने कहा है, "ज्ञानी त्वात्मैव में मतम्" (ज्ञानी तो साक्षात् मेरा स्वरूप है, मेरा यह मत है) । इसी तरह ज्ञानयोग की श्रेष्ठता गीता के अन्य संदर्भों में विविध प्रकार से व्यक्त की गई है ।

इसीलिए ज्ञानयोग आध्यात्मिक साधनों में अधिक फलप्रद है । सब शास्त्र केवल ज्ञान में ही अपना पर्यवसान सिद्ध करते हैं । ज्ञानस्वरूप का चिन्तन ही ध्यान है; यही व्यक्ति का सत्य स्वरूप है । सब तुममें हैं, तुम सबमें हो । यह विश्वास तुम्हें अपनी चेतना में विश्लेषण, विवेक बुद्धि और मानसिक शोध द्वारा दृढ़ कर लेना है । तुम्हें इन्द्रियों, मन और बुद्धि इत्यादि, प्रभावों की छाप को अपनी चेतना से अलग कर हटा देना है । इनका आत्मा से, जोकि वास्तव में तुम ही हो, कोई सम्बन्ध नहीं होता । आत्मा किसी भी विषय और वस्तु से प्रभावित नहीं होती । यदि इन्द्रिय, मन, बुद्धि इत्यादि कार्य करना बन्द भी कर दें तो इस अकर्मण्यता का प्रभाव आत्मा पर नहीं पड़ेगा ! आत्म तत्व अप्रभावित, मोह रहित समझना ही ज्ञान का रहस्य है ।

अपना प्रत्येक कार्य, ज्ञान की ऐसी भावना रखकर करना चाहिए । ऐसा आत्म-चैतन्य तुम्हारे बाह्य एवं आंतरिक, प्रवृत्ति मार्ग और निवृत्ति मार्ग दोनों का मार्गदर्शक बनेगा, कार्यों का बाधक न बन वह उनमें लक्ष्य और अर्थ की पूर्ति कर देगा; वह श्रद्धालु और सदाचारी जीवन बनाकर मनुष्य को निष्काम कर्म के द्वारा मुक्ति के प्रदेश में ले जायेगा ।

मुक्ति के लिए ज्ञान सीधा मार्ग है, इसलिए इसकी पवित्रता अतुलनीय घोषित की है । इससे यह स्वाभाविक सिद्ध होता है कि अज्ञान ही यथार्थ में अत्यन्त घृणित है । "सर्वव्यापक को विशिष्ट में देखो, विशिष्ट को सर्वव्यापक में; यह ज्ञान का निष्कर्ष है, कृष्ण ने कहा, "सब क्षेत्र केवल एक क्षेत्रज्ञ को जानते हैं, और वह कौन है ? आत्मा, अर्थात् तुम, स्वयं तुम ! यह जान लेने से तुम ज्ञानी बन

जाओगे । इसलिए समझ लो कि आत्मा परम आत्मा है; यह विज्ञान है ।" कृष्ण, जो कि सर्वज्ञ थे, अर्जुन के मन से सब संदेह हटा देने के लिए उसे योग की शिक्षा देने लगे ।

"अर्जुन ! मैंने इस पवित्र ज्ञान-योग की सूर्य को शिक्षा दी, फिर यह पीढ़ी दर पीढ़ी चलता हुआ मनु से इक्ष्वाकु और उससे राजर्षियों ने सीखा । फिर यह संसार से लुप्त हो गया । इस शाश्वत योग को पुनः स्थापित करना था इसलिए मुझे आना पड़ा " ।

ज्ञान योग को शाश्वत कहना और फिर उसका लुप्त हो जाना ऐसे विपरीत कथनों पर तुम्हारा ध्यान अवश्य गया होगा । यहाँ शाश्वत को ही नाशवान् बिना विचारे नहीं कहा गया है । इसे दो कारणों से शाश्वत या अव्यय कहा गया है । इसका उत्पत्ति स्थान वेद है जिसका क्षय नहीं होता । इसका फल भी मोक्ष है, उसका भी क्षय नहीं होता । समय बीतने पर यह योग लापरवाही और अप्रचलन द्वारा भुला दिया गया । अर्थात्, यह लुप्त हो गया, दृष्टि से ओझल हो गया इसका क्षय हो गया । इस कथन का अभिप्राय इससे अधिक और कुछ नहीं है । इसे पुनः जीवित करने का अर्थ, इसे पुनः प्रचलित करना है, पुनः नया निर्माण करना नहीं है । "दृष्टि से ओझल" को साधारणतया प्रचलित भाषा में "नष्ट हो गया" कहा जाता है । इसे यहाँ ऐसा ही समझना है क्योंकि जो वस्तु 'नष्ट' हो सकती है उसे भगवान् कभी बनाता नहीं है ।

सूर्य का उल्लेख गूढ़ अर्थ रखता है । भारतवर्ष के लोगों का सूर्य से आत्मिक सबंध है । भारत के 'वीर' क्षत्रियों का सूर्य से पूर्व काल से ही संबंध है । साधारण मनुष्यों के लिए सूर्य इतना पवित्र है कि उसे श्रेष्ठ गुरु माना जाता है । भारतीय धर्मग्रंथों और पौराणिक कथाओं में भी जो अपूर्व स्थान सूर्य को दिया गया है वह अन्य किसी को नहीं दिया गया । सूर्य एक अद्वितीय स्थान रखता है । क्यों न हो, क्योंकि पूरे विश्व के लिए सूर्य परमात्मा का प्रत्यक्ष रूप है । सूर्य समय का उत्पत्ति स्थान है । शास्त्र सूर्य को समय का पिता कहते हैं । प्रत्येक की जीवन अवधि सूर्य ही सीमित और निर्मित करता है । निर्धारित समय के क्षणों का अंश वही प्रतिदिन हरेक के जीवन में से काटता जाता है । इस प्रकार वही निर्णयकर्त्ता और भाग्य विधाता है । व्यक्ति की इच्छा हो या न हो उसका प्रत्येक कार्य सूर्य की अध्यक्षता

में, उसे ही अर्पित कर किया जाता है ।

इतना ही नहीं, सूर्य संसार का कितना कार्य करता है इसका विचार करो । यह सभी नित्य अनुभव करते हैं । इसे सबने देखा है । इस ग्रह के सब जीव, पशुप्राणी, वनस्पति का जीवनदाता सूर्य है । बिना उसकी किरणों के संसार वीरान और अनुपयोगी हो जायेगा । आकाश में वह समुद्र के पानी को खींचकर बादलों द्वारा उसे खेती पर बरसाता है । सब पर एक समान अपनी किरणें डालने वाला वह अमर धर्म देवता है । सूर्य महान् त्यागी है । अनुपम त्यागी है । श्रेष्ठ योगी है । अपनी महत्ता और विश्राम की क्षण भर भी परवाह किये बिना, या बदले की आकांक्षा किये, वह अपना कर्त्तव्य पालन करता है । अपना कार्य वह नम्रता और दृढ़ता से करता है । उसके कार्य को अन्य कोई नहीं कर सकता । उसके द्वारा जो सुख प्राप्त होता है, दूसरा कोई नहीं दे सकता । फिर भी न तो उसमें आडंबर है न अभिमान है । अपनी शक्ति प्रत्यक सेवा के परिणामों से मतलब रखे बिना कार्य करता रहता है ।

इस पर विचार करो कि सूर्य कितने धीरज से संसार और मनुष्यमात्र के लिए इतनी अधिक गर्मी सहन करता है । वही मनुष्य के शरीर को गर्म रखता है, आराम देता है, इस भौतिक शरीर की शक्ति और बुद्धि सूर्यशक्ति से ही प्राप्त होती है । सूर्य के एक क्षण भी रुकने से पूरा संसार जलकर भस्म हो जायेगा । इसके विपरीत वह संसार का पोषण करता है, इसे अपना कार्य व लक्ष्य समझता है, उपकार या सहायता नहीं ।

केवल कर्म में ही, जोकि तुम्हारा स्वभाव है, तुम्हें धीरज रखना चाहिए । यदि कर्म को कर्तव्य का बोझा ही मानोगे तो कष्ट और कठिन परिश्रम सहन नहीं कर सकोगे । अस्वाभाविक व अपनाये हुए कर्म अ-सहज कर्म कहलाते हैं और अपने सच्चे स्वभाव को प्रकट करने वाले कर्म सहज कर्म कहलाते हैं । सहज कर्म तो आसान प्रतीत होंगे और अ-सहज कर्म हमेशा बोझिल लगेंगे । अ-सहज कर्म से अहकार या "मैं कर्ता हूं" की भावना उत्पन्न होकर परिणामस्वरूप थकान या घमड, घृणा या धृष्टता प्रकट होगी ।

इस एक विषय पर विचार करो । व्यक्ति जब स्वस्थ होता है तब कोई भी उसकी कुशलता के बारे में नहीं पूछेगा । लेकिन बीमार या दुःख होने पर सभी पूछेंगे

कि क्या हुआ और फिर चिंतायुक्त प्रश्नों की झड़ी बांध देंगे । लेकिन यह चिंता क्यों ? मूल रूप में मनुष्य आनंदमय और सुखी है । आनन्द उसका स्वभाव है । यही उसका सहज स्वभाव है । इसलिए जब वह खुश और स्वस्थ होता है तो किसी को आश्चर्य या चिन्ता नहीं होती लेकिन शोक और पीड़ा उसके लिए अस्वाभाविक हैं । एक भ्रम के परिणाम-स्वरूप उसका स्वभाव उनसे घिर गया है । इसलिए लोग चिंतित होकर यह पता लगाना चाहते हैं कि वह इस प्रकार भ्रमित कैसे हो गया ।

सूर्य हमें सिखाता है कि अपने मूल स्वभाव में रहने से थकान या घमंड, घृणा या धृष्टता नहीं उत्पन्न होगी । सूर्य का काम उस पर आग्रहपूर्वक थोपा नहीं गया, उसके द्वारा बाध्य होकर स्वीकृत भी नहीं किया गया । इसीलिए उसका कार्य व्यवस्थित क्रम से और शान्ति पूर्वक होता है । सूर्य का मनुष्य को यही उपदेश है कि जिस समय को उसने रचा और पूर्णतया बाँटने में फलीभूत हुआ उसे केवल अपने आराम और सुरक्षित जीवन पाने में खर्च न कर एक सदाचारपूर्ण और प्रेरणात्मक जीवन व्यतीत करने के उपयोग में लिया जाये । मनुष्य ऐसे ही भाग्य की पात्रता रखता है । अब तुम्हें मालूम हो गया होगा कि भगवान् ने गीता का उपदेश सूर्य को पहिले क्यों दिया । सूर्य एक महान् कर्मयोगी है ।

जीवन के चौराहे पर खड़े मनुष्य के प्रतिनिधि अर्जुन को कृष्ण अब इस अमर गीता शास्त्र का उपदेश देते हैं । भगवान् ने अर्जुन को इसके लिए चुना क्योंकि उसमें भी ऐसी ही श्रेष्ठ पात्रता थी, ठीक है न ? क्षण भर इस पर विचार करो । यदि अर्जुन में ऐसे गुण, तेजस्विता और पात्रता न होती तो कृष्ण उसे गीता का उपदेश देने का निश्चय ही न करते । अयोग्य को भगवान् ईश्वरीय शक्ति का उपहार नहीं देते । उपदेश प्राप्त करने योग्य गुण अर्जुन में थे और इसीलिए भगवान् ने उसे इस हेतु चुना ।

•

सातवाँ अध्याय

"धर्म का जब नाश होने लगता है, तब मैं धर्म के पुनरुद्धार व रक्षा करने और सज्जनों को भय से बचाने के लिए निराकार से नराकार रूप में प्रकट होता हूं" कृष्ण ने कहा । इस कथन पर तुम्हारे मन में कुछ संदेह उठेगा और तुम पुछोगे कि ऐसे कथन से साधारण लोग धर्म को नाशवान् और क्षयशील नहीं समझेंगे ? क्या वह धर्म को असत्य और अनित्य मानकर तिरस्कृत नहीं करेंगे ?

अच्छा ! धर्म की रक्षा के कार्य की आवश्यकता तुम इसके आरम्भ और उद्देश्य पर विचार करने पर ही समझ पाओगे । भगवान् ने इस सृष्टि को स्वेच्छा से रचा और इसके निर्विघ्न संरक्षण और संचालन के लिए अनेकों धर्म संहिताओं को सस्थापित किया, हरेक के लिए उपयुक्त आचरण के नियम बने, ये ही धर्म बन गये ।

धर्म शब्द का मूल अक्षर ध्र है, जिसका अर्थ है 'धारण,' अर्थात् धर्म वह है जो धारण किया जाता है । देश भगवान् की देह है जो धर्म रूपी वस्त्र धारण करने से रक्षित है । धर्म ही देश को सौन्दर्य और आनन्द देता है, यही पीताम्बर है, भारत का पवित्र परिधान है, आत्म-सम्मान और गौरव की इसी से रक्षा होती है, शीत से बचाव यही करता है और जीवन को सौंदर्य भी यही प्रदान करता है । इसी के कारण देश का आत्म-सम्मान रक्षित है । वस्त्र से जिस प्रकार व्यक्ति की प्रतिष्ठा जानी जाती है, उसी प्रकार धर्म जनता के गौरव का माप है ।

केवल यह देश ही नहीं, संसार की प्रत्येक वस्तु का अपना विशिष्ट धर्म या कर्त्तव्य की विशिष्टता और गुण होते हैं । हरेक की विशिष्ट वेशभूषा होती है । व्यक्ति और समूह दोनों धर्म के अधीन हैं । उदाहरण के लिए प्रपंच अंग पंचतत्वों को लो । जल का धर्म गति और शीतलता है । अग्नि का धर्म ज्वलन और प्रकाश है । इन पचतत्त्वों में प्रत्येक का धर्म भिन्न है । मनुष्य, मनुष्यता द्वारा और पशु, पशुता द्वारा नष्ट होने से बचते हैं, यदि अग्नि में ज्वलन और प्रकाश की शक्ति न रहे तो अग्नि, अग्नि कैसे कहलायेगी ? इसे अपना अस्तित्व व्यक्त करने के लिए अपना विशिष्ट धर्म प्रकट करना ही पड़ता है, अपने धर्म को प्रकट करने की शक्ति के क्षीण होने से यह केवल एक निर्जीव कोयले का टुकड़ा ही रह जाता है ।

इसी प्रकार मनुष्य के भी कुछ नैसर्गिक गुण है जिनके बिना उसका अस्तित्व ही सम्भव नहीं है । इन्हें शक्तियाँ भी कहा जाता है । जब तक ये शक्तियाँ मनुष्यों में हैं तब तक ही उन्हें मनुष्य कहा जा सकता है । इन शक्तियों के नष्ट हो जाने पर वे मनुष्य नहीं रह जायेंगे । ऐसे गुण और शक्तियोंकी रक्षा और पोषण के लिए विशिष्ट प्रकार का आचरण और विचारधारा निर्दिष्ट की गई है । इन आचार और विचारों का पालन करने से धर्म का नाश नहीं होता । धर्म न तो कहीं बाहर से लाया गया है और न यह हटाया ही जा सकता है । यह तुम्हारा अपना सच्चा स्वभाव है, तुम्हारी विशिष्टता है । पशु से मनुष्य बनाने वाली विशिष्टता यही है । धर्म का पालन किस तरह करना चाहिए ? जो स्वयम् हो वही बने रहने से । यदि कोई वस्तु स्व-धर्म से अलग हो जाती है और मनमानी करने लगती है, तब उस क्रिया को अ-धर्म कहा जाता है ।

समय के साथ-साथ मनुष्य का यह सहज धर्म दब गया । जो इसे अवलम्बन तथा प्रोत्साहन देते थे, इससे आनन्द प्राप्त करते थे, कम हो गये । यानी, प्रचलित भाषा में इसका अर्थ हुआ कि 'यह नष्ट नहीं की जा सकती । लेकिन वास्तव में सहज धर्म ऐसी वस्तु है जो नष्ट नहीं की जा सकती । घास-पात से फसल दब जाती है, इसी प्रकार यह दब गया । इसलिये 'धर्म-स्थापना' का अर्थ केवल क्षेत्र से घास-पात उखाड़ फेंकना ही हुआ । आजकल इस कलियुग में धर्म एक शब्दमात्र रह गया है । वास्तव में धर्म शाब्दिक जादूगरी नहीं है । इसे स्पष्ट समझना चाहिए । सत्य वह है जो कहा जाता है । धर्म वह है जो किया जाता है ।

"सत्यम् वद", "धर्मम् चर" यह उपनिषदों की, भारतीय सभ्यता की निधि की, प्रेरणादायक पुकार है । आज इन श्रेष्ठ उपदेशों को भुला दिया गया है । यथार्थ में तो इन्हें अधोमुख कर दिया गया है । धर्मम् वद् "धर्म बोलो" यही आजकल का कार्यक्रम है ! धर्म के नाश की ओर पहला कदम यही है कि कार्य शब्द पर उतर आए और शब्द ही कर्म बन जाए । कहने को ही करना समझ बैठना ऐसे विश्वास का नाम ही यथार्थ में अधर्म है ।

लेकिन जिस कथन को आचरण में न उतारा जाये उसमें शक्ति नहीं होती । मगरमच्छ की शक्ति का आधार उसकी जल में स्थिति है । धर्म की शक्ति का आधार धर्म को आचरण में उतारना है । जब इसे आचरण से हटाकर शब्दों की

रेत पर फेंक दिया जाता है तब यह अशक्त हो जाता है । सत्य बोलने की वस्तु है । सत्य बोलने के अभ्यास से इसमें शक्ति आती है । सत्य बोला जाता है । यह कार्य नहीं है वरन् शब्द का विषय है । "शक्ति" के यहाँ दो अर्थ होते हैं । पाशविक शक्ति और धार्मिक शक्ति । भीम में शारीरिक शक्ति थी, लेकिन अपने बड़े भाई धर्मराज के साथ रहने से उसकी शक्ति धार्मिक हो गयी ! धार्मिक शक्ति के साथ होने से ही पांडव बच सके ! ऐसा न होता तो वे आरम्भ में ही हार जाते । धर्मराज के बिना, पांडव, सम्पूर्ण साधनों के होते हुए भी, शत्रुओं द्वारा पराजित किये जाते । कुछ सोचो तो श्रेष्ठ साधनों के होते हुए भी, शत्रुओं द्वारा पराजित किये जाते । कुछ सोचो तो श्रेष्ठ साधनों के होते हुए भी कौरव कैसे हार गये ? उनमें धार्मिक शक्ति नहीं थी । उनका सहारा केवल पाशविक शक्ति ही था । जिस दिन धार्मिक शक्तिवाले धर्मराज और भीम जंगल में गये उसी दिन कौरवों के देश में अधर्म ने प्रवेश किया ।

इसलिए अब जो धर्म जंगल में निर्वासित है, उसे ग्रामों व शहरों में पुनः स्थापित करना है जिससे संसार में प्रचुरता, समृद्धि और शांति व्याप्त हो । अधर्म के राज्य से अब संसार को धर्म के युग में प्रवेश करना है । अन्न की उपज के लिए कड़ा परिश्रम करना पड़ता है ! जबकि जंगली घास, झाड़-झंखाड़ों की उपज के लिए कोई प्रयास भी नहीं करना पड़ता । लेकिन सहज धर्म की बहुमूल्य कृषि बड़ी सँभाल, सावधानी से करनी पड़ती है । जब धर्म का अभ्यास होता रहेगा, अधर्म अपने आप कम हो जायेगा । इसे मिटाने के लिए कोई खास परिश्रम नहीं करना पड़ेगा । इसीलिए, इस प्रसंग में धर्म-स्थापना का अर्थ है धर्म को आचरण में उतारने के अभ्यास को बढ़ाना ।

लोगों के इस कथन का अर्थ कि "सूरज डूब गया" क्या है ? केवल इतना कि वह हमें नहीं दीख रहा । इसी प्रकार धर्म दिखाई नहीं पड़ता इसलिए इसका अस्तित्व ही नहीं है ऐसा नहीं कह सकते । इसका अस्तित्व मिट भी कैसे सकेगा ? यदि अस्तित्व मिट गया तो वह सत्य या धर्म नहीं है । धर्म का सम्बन्ध सत्य से है इसलिए वह भी नष्ट नहीं हो सकता । जो धर्म लुप्त हो गया था उसे पुनः प्रकट करना ही सच्ची धर्म-स्थापना है । कृष्ण ठीक यही कर रहे हैं ।

अर्जुन को निमित्त बनाकर, आचार और विचार के नि[illegible] आरंभ से ही

धर्म माना गया, कृष्ण ने प्रकाशित किये और फिर से उन्हें व्यवहार में लाने की प्रेरणा दी । इसे धर्मोद्धार कहा गया है । जो लुप्त हो गया था उसको उन्होंने पुनः स्थापित किया । इस कार्य को कोई साधारण मनुष्य नहीं कर सकता था इसीलिए विश्वव्यापक आधार, सर्वव्यापी भगवान् ने यह कार्य स्वयं किया । केवल वही सर्व-समर्थ हैं । अर्जुन द्वारा वह संसार को शिक्षा दे रहे हैं ।

यदि अर्जुन अन्य व्यक्तियों की तरह होता तो वह इस महान् उपदेश का पात्र या साधन न बनता । इससे तुम्हें अनुमान होगा कि अर्जुन वास्तव में एक महापुरुष था । वह ऐसा वीर था जिसने केवल बाह्य शत्रुओं को ही पराजित नहीं किया वरन् आंतरिक शत्रुओं को भी हरा दिया । दुर्बल हृदय वाले न तो गीता को समझ सकते हैं और न ही उसे आचरण में उतार सकते हैं । इसका पूर्णरूप से ध्यान रखकर इस श्रेष्ठ लक्ष्य के लिए कृष्ण ने अर्जुन को निमित्त बनाया और वह उनके अनुग्रह का पात्र हुआ ।

एक बार बड़ी आत्मीयता से वार्तालाप करते हुए कृष्ण ने अर्जुन से कहा : (कृष्ण की महती कृपा पर ध्यान दो !)... "अर्जुन तुम मेरे निकटतम भक्त हो । केवल यही नहीं, तुम मेरे अत्यन्त प्रिय मित्र हो । तुम्हारे समान प्रिय मित्र मेरा कोई भी नहीं है । इसी कारण मैंने तुम्हें इस श्रेष्ठ और पवित्र रहस्य की शिक्षा दी ।

इस पर विचार करो ! इस संसार में अनेकों पाखंडी भक्त हैं । भगवान् ने इन्हें स्वीकार नहीं किया । स्वयं भगवान् से ऐसे भक्त की श्रेष्ठ पदवी मिलना एक अत्यधिक श्रेष्ठ प्रमाण और सौभाग्य की बात है । भक्ति द्वारा भगवान् का हृदय द्रवित कर भक्त अपनी भक्ति उनसे स्वीकृत करवा ले क्योंकि स्वयं अपने को भक्त मान लेने से अल्प संतोष ही मिलता है, सच्चा आनन्द और आत्म तुष्टि नहीं; अल्प तृप्ति ही प्राप्त होती है । एक मात्र अर्जुन ही ऐसा व्यक्ति था जिन्हें स्वयं भगवान् ने यह पदवी दी । इससे तुम्हें अनुमान होगा कि अर्जुन कितना शुद्ध हृदय और योग्य पात्र था । अपने बारे में तुम चाहे सैकड़ों बातें कहो, अनेक दावे प्रस्तुत करो लेकिन इसके लिये तुम भगवान् का प्रमाणपत्र तो प्राप्त करो । बिना इसके तुम्हारी सब बातें व्यर्थ हैं ! संशयरहित दृढ़ समर्पण द्वारा ही भक्ति को जीतना चाहिए । केवल इतना ही पर्याप्त नहीं है, यह बताने के लिए कृष्ण ने 'मित्र' शब्द का उपयोग किया । मित्र को मित्र से किसी प्रकार का भय नहीं होता इससे वह पूर्णतया योग्य

पात्र बनता है ।

अब हम फिर से गीता के विषय पर आयें । कृष्ण के शब्दों को सुनकर अर्जुन का मन संदेहों से घिर गया था । वह घबड़ा गया । वही नहीं, आजकल भी अनेकों व्यक्ति संदेहों से चिन्तित हैं । इसके अलावा इस जटिल आध्यात्मिक और ज्ञान के क्षेत्र में परमात्मा के बारे में दो प्रकार के अर्थ सम्भव हैं, बाह्य और आंतरिक । साधारण लोग बाह्य को स्वीकार करते हैं और जो परमात्मा का कुछ अनुभव कर चुके हैं वे आंतरिक को समझना चाहते हैं ।

कहावत है, "जैसे आँख में मस्सा, जूते में कंकड़, पैर में कांटा, और घर में फूट" । वैसे ही यह 'दिमाग में संदेह' है । अर्जुन जो कि मानवमात्र का प्रतिनिधि है, उसका संदेहों से घिर जाने का अर्थ है कि यह संदेह मानवमात्र के सामान्य संदेह हैं । मानवता से ऊँचे और परे जो माधव हैं वे ही उसका संदेह निवारण कर सकते हैं । अर्जुन के संदेह दूर कर, उसके हृदय में आनन्द भरने के लिये ही कृष्ण उसके पास इसी लक्ष्य से उपस्थित हैं ।

यथार्थ में संदेह क्या है ? द्वापर युग के अन्त में कृष्ण का जन्म हुआ । सूर्य और मनु इससे भी बहुत पहिले हुए । इन दोनों के मध्य अनेकों पीढ़ियां होने से कृष्ण और इनका मिलन नहीं हो सकता । कृष्ण और अर्जुन समकालीन हैं । फिर कृष्ण ने सूर्य को यह योग कैसे सिखाया ? चुपचाप बैठकर ऐसी अविश्वसनीय कहानियों को सुन लेना भी बुद्धि के दिवालियेपन की निशानी है । अर्जुन की व्याकुलता पल-पल बढ़ती गई । कृष्ण जो कि सर्वव्यापी और सर्वज्ञ हैं इसे जान गये, और बोले, "तुम्हारी व्याकुलता का कारण क्या है ? बताओ" । हँसकर उन्होंने उसे बताने के लिए प्रेरित किया ।

ऐसा मौका मिलने से अर्जुन प्रसन्न हो बोला, "माधव ! आप जो कहते हैं, मेरी समझ में नहीं आता । मैं इतना घबड़ा गया हूँ कि जो विश्वास मुझे आप में था वह कुछ कम होता जा रहा है । लेकिन मेरी प्रार्थना है कि आप मेरे इस प्रकार के प्रश्नों के लिए मुझे क्षमा करें और मेरे सब संदेह हटा दें, अब अधिक सहनशक्ति मुझमें नहीं रही है ।" अर्जुन ने हाथ जोड़कर नम्रतापूर्वक प्रार्थना की ।

गोपाल ने प्रसन्न होकर उसका संदेह क्या था, पूछा । तब अर्जुन ने कहा, "आपने कहा कि इस योग की शिक्षा आपने सूर्य और मनु को दी । यह दोनों कितने

प्राचीन काल के हैं और आप किस युग में हैं? क्या इसी शरीर से आपने उन्हें यह शिक्षा दी? इस पर मुझे विश्वास नहीं होता क्योंकि आपका यह शरीर और उम्र मुझसे सिर्फ चार या पांच वर्ष ही अधिक है । यदि उन्हें अब शिक्षा दी है तो मुझे इसका पता कैसे नहीं लगा? और सूर्य तो आपसे भी अनेकों गुना बड़ा है जो आरम्भ से यहाँ है और हमारी कल्पना से भी परे भूतकाल का है! नहीं, मैं इस पर विश्वास नहीं कर सकता । श्रेष्ठ बुद्धिमान् द्वारा भी इसे सत्य प्रमाणित करना सम्भव नहीं है । जाने दीजिए । आप अब कहेंगे, "यह शरीर नहीं था, इस युग में नहीं ! यह तो तब हुआ जब मैं दूसरे शरीर में अन्य युग में था । इससे आश्चर्य और भी बढ़ जाता है क्योंकि पूर्वजन्मों की बात इस प्रकार कैसे कोई याद रख सकता है? यदि आप याद रख सकते हैं, तो मुझे भी याद रहनी चाहिए । ठीक है न? शास्त्र बताते हैं कि कुछ थोड़े से दिव्य व्यक्ति ही पूर्वजन्मों की बातें स्मरणशक्ति द्वारा याद रख सकते हैं और नश्वर मनुष्य को ऐसी स्मरणशक्ति प्राप्त होती ही नहीं । यह ठीक है और मैं मानता भी हूँ कि आप दैविक हैं, लेकिन मैं सूर्य को भी दैविक मानता हूँ । जिन दो व्यक्तियों की दिव्यता बराबर है वे आपस में एक दूसरे से कैसे शिक्षा ले या दे सकते हैं । आप उपदेश दें और वह ज्ञान प्राप्त करे, तो वह आपका शिष्य कहा जायेगा, है न? तब आप सूर्य से श्रेष्ठ माने जायेंगे । यही मान लिया जाये । मैं मानता हूँ कि आप स्वयं परमात्मा हैं लेकिन इससे तो और भी मेरी कठिनाइयाँ बढ़ जाती हैं । क्योंकि परमात्मा जन्म, मरण और कर्म के बन्धन से किस लिए बँधते हैं? पाँच फुट का मनुष्य शरीर जब आप धारण करते हैं तब असीम परमात्मा को सीमित नहीं कर देते? अनंत, असीम, सर्वव्यापी परमात्मा अपने को एक सीमित व्यक्ति में क्यों अवतरित करता है इस प्रकार मैं अपने मन में अनेकों तर्क करता हूँ लेकिन इस संदेह का समाधान नहीं कर पाता?

आपके शब्द आप ही की समझ में आ सकते हैं, मेरी समझ में वे बिल्कुल नहीं आते । मेरा माथा व्याकुलता से भ्रमित हो गया है । मेरा मार्ग-दर्शन कीजिए, विश्वास जम सके, ऐसा उत्तर दीजिए", अर्जुन ने प्रार्थना की ।

कृष्ण मन ही मन में हँसे; उचित अवसर आ पहुँचा है यह जान लिया । उन्होंने कहा, "अर्जुन ! अब जो प्रश्न [illegible] हुआ, तब इस कथन का वास्तविक [illegible] अर्थ मैं समझाता

हैं । ठीक है ? सूर्य न तो उदय होता है न कभी अस्त होता है । मैं भी इसी तरह हूँ; न मेरा जन्म है, न मेरी मृत्यु होती है । साधारण बुद्धि के लोग समझते हैं कि मेरा अनेकों बार जन्म होता है और प्रत्येक जन्म में मैं अनेकों कार्य करता हूँ । संसार को उन्नत करने की जब भी आवश्यकता होती है तब मैं कोई एक नाम और स्वरूप धारण कर प्रकट होता हूँ; बस इतना ही । मेरे सब स्वरूपों के प्रकटन का मुझे चेतन है । मैं सर्वशक्तिमान् हूँ, सर्वज्ञ हूँ । केवल मैं ही नहीं, तुम भी सब जानते हो । लेकिन तुम्हारी ज्ञान-शक्ति अज्ञान से घिर गई है । मैं स्वयम् ज्ञान हूँ, इसलिए मैं सब जानता हूँ । शीशे में सूरज का दीखना उसकी पदवी या महत्ता को नष्ट नहीं करता । वह अप्रभावित है, उसकी महत्ता कम नहीं हो सकती । इसी प्रकार मैं भी प्रकृति में प्रतिबिंबित हूँ, और इससे मेरी कोई भी प्रतिभा या पदवी कम नहीं होती । मैं सर्वदा की तरह सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ बना रहता हूँ । मैं अजन्मा, अविनाशी हूँ । पूर्वजन्मों के अच्छे-बुरे कर्मों के अनुसार मनुष्य का जन्म होता होगा । नहीं ऐसा नहीं है । तुम्हारा कर्मजन्म है: मेरा लीला-जन्म है । सज्जनों की प्रार्थना मेरे जन्म का कारण है । दुष्टों की दुष्टता भी इसका कारण है ।"

आठवाँ अध्याय

अवतारों के लिए पूर्वजन्मों के अच्छे व बुरे ऐसे कर्म संचय नहीं होते, जिनका फल उन्हें साधारण मरणधर्मा मनुष्य की तरह इस जन्म में भोगना पड़े । उनके लिए तो जन्म धारण करना एक लीला है । सज्जनों की सज्जनता, और दुर्जनों के दुष्कर्म भगवान् के अवतार का कारण होते हैं । उदाहरण के लिए, नृसिंह अवतार लो । प्रह्लाद के अच्छे गुण और हिरण्यकशिपु की दुष्टता, दोनों इसका कारण हुए । भगवान् के आगमन से सज्जन प्रसन्न होंगे और दुर्जन दुःखी होंगे । मनुष्य रूप में अवतरित होने पर भी, अवतार. सुख और शोक से परे हैं । अवतार पंचतत्त्व

के नहीं बने होते हैं । वह चिन्मय हैं मृन्मय नहीं । अहंकार या 'मेरा' 'तेरा' इन्हें विचलित नहीं करता । अज्ञान से उत्पन्न भ्रम इन्हें छू नहीं सकता । अवतार को मनुष्य, मानव समझने की भूल कर सकता है लेकिन इससे अवतार की दैवी प्रकृति पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता । वह जिस कार्य के लिए अवतरित होता है, वह पूर्ण होता ही है ।

यह कार्य क्या है मैं तुम्हें बतलाता हूँ । यह साधुओं की रक्षा, दुष्टों को दंड देना और धर्म को आश्रय देना है । साधुओं का अर्थ अक्सर योगी और संन्यासी माना जाता है । मेरा मतलब यहाँ इनसे नहीं है । साधु का अर्थ यहाँ साधु-गुण, सज्जनता, सच्चाई, सदाचार से है और यह गुण सब जानवरों और जन्तुओं में भी पाये जा सकते हैं । वास्तव में सत्वगुण को बढ़ाना, साधुओं के पोषण का श्रेष्ठ तरीका है, अवतार इस पवित्र गुण का साकार रूप है, इसलिए जहाँ भी ऐसा गुण दीखता है इसका वह पोषण करता है, संन्यासी इसे पाने की चेष्टा करते हैं, इसलिए उन्हें साधु कहा जाता है उन पर भगवान् की विशिष्ट कृपा-दृष्टि भी रहती है ।

लेकिन सिर्फ वही साधु नहीं है । वे सब जो सत्-शील, सत्य का पालन करने वाले, और जो सर्वेश्वर की सन्निद्धि के लिए उत्कंठित हैं; सद्धर्म पालन करने वाले और सभी जनों को समान समझने वाले हैं, सभी साधु हैं । जानवरों और पक्षियों में भी विशिष्ट गुण वाले पाये जाते हैं । रामायण में इन्हीं गुणों के कारण जटायु की रक्षा हुई । इन्हीं कारणों से गजेन्द्र को आशीर्वाद, वानरों को सेवा का मौका और भगवान् की कृपा और आशीर्वाद प्राप्त हुए । इसी कारण गिलहरी तक को आशीर्वाद मिला । गले में माला, भगवा वस्त्र और दण्ड हाथ में धारण करने से कोई साधु नहीं बन जाता । वस्त्रों से या भाषा से साधु या असाधु निश्चित नहीं होता । यह निर्णय तो गुण करते हैं । अच्छे बनने की सम्भावना सब पशुओं में भी है । इसीलिए सभी की सज्जनता का पोषण ही संसार की भलाई का पोषण है । अब दुर्जनों की सजा के बारे में । प्रत्येक वर्ग व पशुगण जो अपनी निर्धारित मर्यादा की सीमा का उल्लंघन करते हैं, जो अ-कर्म, अन्याय और अनाचार में लगे हैं और जो अहंकार चक्कर में ही घूमते हैं, उन्हें सजा देनी ही होगी । जिन्होंने अपने रजोगुण और तमोगुण को बढ़ावा देकर, अपने सतोगुण को लुप्त कर दिया है और जिन्होंने दया, धर्म और दान के चिंह मिटा दिए हैं उन्हें दंड देना ही होगा ।

तीसरी बात कृष्ण ने अर्जुन को यह बताई कि धर्म का पोषण करना भी उनका ही काम है । इस संदर्भ में साधु का दूसरा भी महत्वपूर्ण अर्थ है । साधु वह है जो अपने कर्तव्य से विमुख नहीं होता, चाहे कितना ही प्रलोभन या भय का अवसर हो । दुर्जन ऐसे लोगों के लिए बाधा खड़ी करके प्रसन्न होते हैं और शास्त्रों में लिखे निर्देशों के विरुद्ध व्यवहार करते हैं । तब धर्म-स्थापना क्या है? शास्त्रों में निर्देशित धर्म का दृढ़ता से पालन करना । धर्मानुसार आचरण को महत्व देना और उसकी महता का लोगों में प्रचार करना; वेद-शास्त्र, भगवान् के अवतार, परम-पुरुष और साधना के लिए आदर-भाव दृढ़ करना जो कि इस जीवन के परे, मोक्ष व ईश्वर की कृपा-प्राप्ति का मार्ग है । इसी को धर्म-संस्थापना, धर्म-रक्षा या धर्मोद्धार कहा जाता है । जो कुछ भी मैं करता हूँ, इसी ऊँचे अभिप्राय से करता हूँ, अपनी निजी उन्नति के लिए नहीं, जो इस रहस्य को जानते हैं, वे जीवन-मृत्यु के बन्धन से छूट जाते हैं"– कृष्ण ने कहा, भगवान् को अपने से दूर, अलग, भिन्न अनुभव करना परोक्ष ज्ञान कहलाता है । विश्वव्यापी भगवान्, आत्मरूप अपने में हैं यह अनुभव करना अपरोक्ष ज्ञान है । सब कार्य यदि समर्पण भाव से किये जायें तो मनुष्य का चित्त शुद्ध हो सकता है । शुद्ध चेतना वाले ही भगवान् के जन्म और कर्म की दिव्यता को पहचान सकते हैं । कृष्ण ने कहा, "सभी, इस प्रकार, इनकी दिव्यता नहीं समझ सकते । फिर भी मनुष्य रूप में अवतरित भगवान् का संपर्क नहीं छोड़ना चाहिए । इस अवसर का लाभ उठाने के लिए जितना भी हो सकता हो करो । इसमें तुम्हारी ओर से कोई भी कमी नहीं रहनी चाहिए ।"

इस अध्याय के दसवें श्लोक में इस पर महत्त्व देकर और योग्य शिष्य के लक्षण भी बताए गये हैं । "अर्जुन! सभी मेरे जन्म की और कर्म की दिव्यता को समझ नहीं सकते । जो मोह, घृणा, भय और क्रोध रहित हैं; और जो परमात्मा के नाम और रूप में लीन हैं, जिनका मेरे सिवा और कोई सहारा नहीं, जो आत्मज्ञान द्वारा शुद्ध हो चुके हैं, एक मात्र वही मुझे समझ सकेंगे । जो मुझे दृढ़ता से खोजते हैं, जिनमें सत्य, धर्म और प्रेम है वही मुझ तक पहुँच सकते हैं । यह नितान्त सत्य है, इस पर विश्वास रखो, तुम्हारे मन में जो कुछ भी शंकाएँ हों उन्हें मिटा दो ।

आंतरिक चेतना को अज्ञानवश, मनुष्य बाहरी संसार में लिप्त रहकर अशुद्ध कर देता है । शब्द, रस, रूप इत्यादि द्वारा वह सुख प्राप्त करने का लालच होता

है । इस प्रयत्न में परास्त होने पर वह व्यग्र होता है, घृणा और भय से भर जाता है । भय मनुष्य के मानसिक शक्ति-स्रोतों का अपहरण कर लेता है । और आसानी से शान्त न होने वाला क्रोध उत्पन्न हो जाता है । इस प्रकार इच्छा, क्रोध और भय एक के बाद एक उठते रहते हैं, और इन्हीं तीनों को मिटाना आवश्यक है । अर्जुन ! इन तथ्यों पर मन में विचार करो । फिर कार्य करो । विवेक-बुद्धियुक्त बनो । मेरे शब्दों में विश्वास रखो ।

यह सब सुनकर अर्जुन ने पूछा --"नन्दकुमार ! ऐसी पवित्र और उन्नत स्थिति सभी लोगों को क्यों नहीं देते ? स्वयं को आपने परमेश्वर रूप और दयामय घोषित किया है । फिर यह पक्षपात क्यों ? मुझे तो यह पक्षपात ही लगता है कि ज्ञानी को तो आप श्रेष्ठ स्थिति देते हैं और अज्ञानी को नहीं । मैं तो यह भी कहूँगा कि अज्ञानी को तो विवेक-बुद्धि भी नहीं होती, वह तो घड़ी के दोलक (पेन्डुलम) की तरह एक वस्तु से दूसरी वस्तु की ओर झूलता रहता है, और उसी को आपके आशीर्वाद की आवश्यकता भी अधिक होती है । ज्ञानी तो समझदार है । वह जानता है सम्पूर्ण संसार विष्णुमय है, फिर उसको इससे अधिक स्पष्टता की क्या आवश्यकता है ? उसे और अधिक कृपा की आवश्यकता भी नहीं है ।"

कृष्ण ने उत्तर दिया --हाँ, मनुष्य अक्सर ऐसे संदेहों से व्याकुल रहते हैं । तुम मनुष्यमात्र के प्रतिनिधि हो, इसलिए तुम्हारे सन्देह, सब मनुष्यों के संदेह हैं । तुम्हारे सन्देहों को मिटाकर मैं मनुष्य जाति को अपना संदेश प्रदान कर सकता हूँ । सुनो ! जो मुझे प्राप्त करना चाहते हैं वह चार प्रकार के होते हैं ।

प्रथम, जो कि शारीरिक दुर्बलता और रोगों से क्षीण हैं, वे आर्त हैं दूसरा जो समृद्धि सत्ता, अपना स्वार्थ, संपत्ति इत्यादि के संघर्ष से चिंतित हैं, वह अर्थार्थी हैं । तीसरा आत्म-साक्षात्कार की लालसा से शास्त्रों व पवित्र ग्रंथों को पढ़ता है, सर्वदा पवित्र साधकों के साथ रहता है, संतों द्वारा निर्देशित नियमों का पालन करता है और हमेशा भगवान की सन्निधि की उत्कंठा से प्रेरित है, वह जिज्ञासु कहलाता है । चौथा ज्ञानी है । वह सदा ब्रह्मतत्त्वम् में डूबा रहता है ।

प्रथम जो आर्त हैं वह कष्ट, शोक और पीड़ित, दर्द होने पर ही भगवान् की पूजा करता है । मैं उसकी प्रार्थना सुनकर उसकी उस इच्छा की पूर्ति करता हूँ, जिस निमेष शोक या दुःख दूर करने के लिए करने के लिए प्रार्थना की गई थी । इसी

प्रकार जब अर्थ शक्ति धन सत्ता मान या श्रेष्ठ पद के लिए याचना करता है तो मैं उसकी भी प्रार्थना सुनकर जो विशिष्ट वस्तु चाहता है वही देता हूँ । जिज्ञासु को मार्ग प्रदर्शन के लिए योग्य गुण देकर निष्काम कर्म करने का अवसर देता हूँ व आत्मा की भिन्नता को परखने वाली तीव्र बुद्धि प्रदान करता हूँ । इस प्रकार उसे लक्ष्य प्राप्ति में सहायता मिलती है । मेरी कृपा उसे विघ्नों से बचा कर एकाग्रतापूर्वक मोक्ष के लक्ष्य पर अग्रसर करती है ।

मैं कल्पवृक्ष की तरह प्रत्येक को उसकी इच्छित वस्तु देता हूँ, मैं पक्षपात नहीं करता, क्रूरता की छाया भी मुझे छू नहीं सकती । किसी अशुद्धि का दोषारोपण मुझ पर नहीं हो सकता । सूर्य की किरणें उनके पथ पर आने वाली प्रत्येक वस्तु पर बराबर पड़ती हैं, लेकिन यदि कोई वस्तु किसी की आड़ में हो, जैसे कि बन्द कमरे में तो उसे वह प्रकाशित कैसे कर सकेंगी ? श्रेष्ठ इच्छाओं की आदत डालने से, तुम श्रेष्ठ स्थिति पा सकोगे । दोष तो आकांक्षी और उसकी आकांक्षाओं का है, भगवान् का नहीं ।

अर्जुन ! मैं तो मनुष्य की आत्मा ही हूँ और मनुष्य मेरा ही आदर व मुझे प्राप्त करने का प्रयत्न छोड़ देता है । कितना मूर्ख है वह ? मेरे पास आने की उसे उत्कंठा नहीं; और इसके विपरीत वह ऐसी वस्तुओं का पीछा करता है जो कि क्षणिक, असत्य और नश्वर हैं । मैं तुम्हें ऐसे विचित्र और मूर्खतापूर्ण बर्ताव का कारण बताऊँगा । कर्मोपासना तुरन्त फल देती है, मनुष्य उसी की प्राप्ति चाहता है जो यहाँ अभी एकदम प्रत्यक्ष रूप में मिले और जिसे उसकी इन्द्रियाँ समझ सकें । मनुष्य साधारणतया सत्य की प्राप्ति कठिन समझता है । इसलिए इन्द्रियों से परे जो पूर्ण परम सुख है उसे छोड़कर वह सारहीन सुखों के आकर्षण में बह जाता है । ज्ञान की प्राप्ति ही आन्तरिक विजय है, बड़े लम्बे और दुष्कर संघर्ष के पश्चात् यह प्राप्त होती है, इसके लिए आवश्यक धीरज, मनुष्य में साधारणतया नहीं होता है । इसके अलावा वे भौतिक शरीर को ही अधिक महत्त्व देते हैं । शरीर तो इन्द्रियों को सुख देने वाली वस्तुओं से ही प्रसन्न हो सकता है । इसलिए मनुष्य ऐसा ज्ञान नहीं चाहता जो उसे ऐसे मार्ग पर, जहाँ इन्द्रियाँ व्यर्थ हो जावें, भेजता है । वह तो कर्म-सिद्धि चाहता है, ज्ञान-सिद्धि नहीं । बौद्धिक उत्कंठा की जकड़ में इतने लोग नहीं, जितने कि इन्द्रियों और उनके आवेशों की लपेट में हैं । जो इन्द्रिय-सुखों के

आधीन हैं, वे प्रत्यक्ष स्पष्ट स्पर्शनीय भौतिक सुखों की ओर आकर्षित होते हैं । बहुत कम संख्या में आध्यात्मिक प्रवृत्ति वाले हैं, जो विश्वव्यापी अगोचर, अदृश्य, पूर्णशुद्ध परमानन्द में लीन होने की आकांक्षा करते हैं । और इनका ही मार्ग सही है । कर्मोपासना गलत मार्ग है । धर्म-कर्मों का सच्चा मूल्यांकन सबके लिए स्पष्ट करना ही मेरा कार्य है जो उचित जाँच-पड़ताल द्वारा ग्रहण किया जा सके । लेकिन, अर्जुन ! धर्म-स्थापना, जिसके लिए मैं आया हूँ उसको करने का एक ही ढग है । वह है 'चातुर्वण्यम्' अर्थात् गुण और कर्मों के आधार पर लोगों की चौमुखी व्यवस्था । संसार को चलाने के लिए वर्ण-व्यवस्था बहुत ही आवश्यक है । इसका महत्व समझना सरल नहीं है । कुछ लोग इस विश्वास में बहक जाते हैं कि वर्ण-व्यवस्था लोगों में भेद-भाव फैलाकर मनुष्य को मनुष्य से दूर कर देती है । इस समस्या पर यदि विवेक-बुद्धि द्वारा विचार किया जाये तब सत्य क्या है स्पष्ट मालूम हो जायेगा । इस निर्णय पर पहुँचना कि वर्ण-व्यवस्था कल्याणकारी नहीं, अज्ञान है । ऐसे निर्णय से अव्यवस्था बढ़ती है । मैंने यह व्यवस्था संसार के कल्याण की वृद्धि के लिए स्थापित की है, यानी, 'लोकक्षेम' के लिए वर्ण से मनुष्य को सधर्मी समान प्रकृति के कार्यों को करने में सहायता और संतोष मिलता है । इसके बिना मनुष्य एक क्षण भी सुख नहीं पा सकता ।

कार्यों की सफलता के लिए वर्ण प्राणवायु ही हैं । जिनमें सत्वगुण है, जिन्होंने ब्रह्मत्व को समझ लिया है, जो आध्यात्मिक, नैतिक और उन्नत जीवन का पोषण करते हैं और जो दूसरों को उनमें निहित सत्य स्वभाव के आनन्द का अनुभव कराने में सहायक होते हैं, वे ब्राह्मण हैं । जो योग्य, स्वस्थ, राजकीय-कानून, न्याय और साथ ही देश के कल्याण, समृद्धि व जनता के लिए निर्देशित नैतिक विधान की रक्षा करते हैं, जो दुष्ट और पापियों का दमन करते और पीड़ित व निर्बल की सहायता करते हैं वे क्षत्रिय हैं ।

जो उचित मर्यादा में लोगों के लिए संग्रह और वितरण करते हैं जिससे उनका शारीरिक जीवन सुखी बना रहे, वे वैश्य हैं । जो सेवा-कार्य द्वारा मनुष्य-कल्याण की नींव डालते व शक्ति और पुष्टता प्रदान करते हैं वे शुद्र कहलाते हैं । मैंने इन चारों वर्णों को इस प्रकार व्यवस्थित किया है । यदि यह सब वर्ण अपने निर्धारित कर्त्तव्यों को करें तो संसार की पूर्णरूप से उन्नति होगी । इस व्यवस्था के

परिणामस्वरूप उत्तरदायित्व का विभाजन कर दिया गया है, जिससे व्यक्ति शोक और भयरहित होकर सुखी और एकात्म सामाजिक जीवन व्यतीत करे । यह वर्ण-व्यवस्था भारत पर भगवान् की कृपा का एक उदाहरण है ।

भारतवर्ष की प्रजा धन्य है क्योंकि वह हर कार्य भगवान् की आज्ञा मानकर, उनकी कृपा की ओर ले जाने वाला समझती है । इस पर विचार करना होगा क्योंकि यह बहुत महत्वपूर्ण है । इस समय इस दैविक आज्ञा के उल्लंघन का संकट है । यदि शासक वर्ण-व्यवस्था को बदल देंगे तो संसार को वह वांछित सुख नहीं मिलेगा, जो सब चाहते हैं । बहुत से लोग तर्क करते हैं और उपदेश देते हैं कि भारत की दुर्दशा का कारण वर्ण-व्यवस्था है । लेकिन इन लोगों को क्षणभर शान्ति से बैठकर निम्नलिखित प्रश्नों पर ध्यान देना होगा ।

"क्या इसी व्यवस्था के कारण हमारा देश अभी तक जीवित है ? जो देश की दुर्दशा हुई क्या वह इस व्यवस्था के शिथिल होने से हुई है ? और फिर अपने इन निर्णयों के आधार पर वर्ण-व्यवस्था को निकाल फेंकने का परामर्श दे सकते हैं किन्तु बिना किसी निष्पक्ष शोध के जो लोग वर्ण-व्यवस्था को दूषित ठहराते हैं उनके परामर्श का कोई मूल्य नहीं हो सकता ।

इसमें संदेह नहीं कि वर्ण-व्यवस्था अपने सही मार्ग से हट गई है और गलत मार्ग की ओर बहकी जा रही है । अनेकों महान् लोगों ने इस बात पर ध्यान आकर्षित किया है । लेकिन केवल इतना ही कारण इसको निकाल फेंकने के लिए पर्याप्त नहीं है । यदि पैर हाथ का काम करने लगें और हाथ पैर का काम करने लगें तो हाथ व पैर को ही काट फेंकने की सलाह उचित न होगी । बिगड़ी हुई बात को सुधारने का प्रयत्न करना होगा न कि वर्ण-व्यवस्था को ही उखाड़ कर फेंकने का । व्यग्रता और अशान्ति का कारण वर्ण-व्यवस्था नहीं हैं । दोष तो अनियमित तरीकों का है जिनसे अव्यवस्था बढ़ी है । हर प्रकार के लोगों के हाथ का खिलौना बनने ही के कारण इसकी मौलिक स्वस्थता और शान्ति खो गई है । विदेशों में भी यह व्यवस्था है । नाम दूसरे हो सकते हैं, लेकिन कार्य-प्रणाली एक ही है । वहाँ भी चार विभाग हैं--शिक्षक वर्ग, रक्षक वर्ग, वाणिज्य वर्ग और श्रमिक वर्ग । लेकिन भारत में जन्म से वर्ण जाना जाता है । संसार के दूसरे भागों में कर्म से, जो जिस कार्य को करता है उससे माना जाता है । इतना ही अन्तर है ।

अब ब्राह्मणों में, जिनको कि प्रथम वर्ण की मान्यता है, बहुत से हैं जो निर्धारित मार्ग को छोड़कर निम्न तरीके अपनाते हैं । इसी प्रकार चौथे वर्ण में या शुद्रों में बहुत से ऐसे पाये जाते हैं जिनके विचार पवित्र आदर्शों से प्रेरित हैं, जिनकी श्रेष्ठ आध्यात्मिक आकांक्षायें हैं, और जो मन की शुद्धि द्वारा सिद्धि चाहते हैं । ऐसी कुछ सम्भावनाओं मात्र से ही वर्ण-व्यवस्था को मानव समाज के लिए निरर्थक बताना उचित नहीं है ।

नवाँ अध्याय

दिव्यता के क्षेत्र में समाज और व्यक्ति की रक्षा के लिए जिस प्रकार मन की पवित्रता मुख्य है, उसी प्रकार वर्ण-व्यवस्था भी बहुत महत्वपूर्ण है । इसे उपहास, आलोचना, निन्दा द्वारा कभी भी मिटाया नहीं जा सकता । कल्याण को सभी आवश्यक समझते हैं, इसलिये शासक और विद्वान् दोनों अपना क्रोध और घृणा की भावना त्याग कर शान्ति पूर्वक इसके लाभ-हानि दोनों पक्षों को गहराई से समझ कर वर्ण संगठन को सुव्यवस्थित रूप दें । यही कार्य उचित है । विद्वान् और चतुर पण्डितों के लिए ईर्ष्या और अज्ञानियों की निरर्थक आलोचना का पक्ष लेना अनुचित है । वर्ण-व्यवस्था को अस्वीकार करने वाले स्वयं एक वर्ण बन रहे हैं । धर्म का निषेध करने वाले स्वयं एक नये धर्म का निर्माण कर रहे हैं । जो बहुत समझदार हैं, वे भी जानबूझकर वर्ण के विरुद्ध ऐसी बातें करते हैं मानो वे भी औरों की तरह नासमझ हैं, यही तो आश्चर्य है ।

हर वस्तु के लिए एक सीमा रहती है । यदि वह इस सीमा का अतिक्रमण करती है तो वह वस्तु खुद नष्ट हो जाती है । इसकी पहचान क्या है ? वस्तु के गुण व रूप की क्रमानुकूलता; किसी का यथा-रूप तथा-गुण न हो तो वह असत्य है, झूठ है । इसी प्रकार किसी वर्ग की कोई सीमा न हो तो उसे एक अलग वर्ग कैसे

पहचाना जायेगा ? वह न इधर का रहेगा न उधर का । सिर्फ एक आकृति विहीन ढेर या अव्यवस्थित समूह बनकर रह जायेगा । वर्ण-निर्माण एक दैवी व्यवस्था है । इसीलिए युगों तक महर्षियों, सन्तों और वरिष्ठ लोगों ने इसका पोषण कर इसे स्थिर रखा । लेकिन इस कलियुग में बुद्धिमान भी इसे कचरा समझ हटा रहे हैं ।

बिना गम्भीर जांच-पड़ताल व अन्तर पहचाने अपने ही दृष्टिकोण से इसके बाह्य स्वरूप को देख कोई कैसे ठीक निर्णय पर पहुँच सकता है ? इसकी पवित्रता और मूल्य तभी समझ में आयेगा जब अन्तरदृष्टि, सर्व-व्यापी निरीक्षण शक्ति और "जिज्ञासु" आत्म तत्व प्रबल होगा । जैसे दूध का अन्तरवर्ती मक्खन, मंथन की क्रिया से प्रकट होता है, उसी प्रकार इन चार वर्णों का विशिष्ट मूल्य विवेचनापूर्ण जिज्ञासा द्वारा स्पष्ट हो जायेगा । तभी पक्षपात वृत्ति नष्ट होकर यथार्थता प्रत्यक्ष हो जायेगी ।

चार वर्ण एक ही शरीर के विभिन्न अंगों के समान हैं । वह उसी एक दिव्य शरीर से उत्पन्न हुए हैं--ब्राह्मण मुख से, क्षत्रिय हाथ से, वैश्य जंघा से और शूद्र चरणों से, (वास्तव में इस कथन का गहरा आंतरिक अर्थ है) । ज्ञान के सिद्धान्तों की जो गुरु की तरह शिक्षा देती है, उस वाणी का वक्ता ही ब्राह्मण है । शक्तिशाली भुजावाले, जो पृथ्वी का भार उठाये हैं, वे क्षत्रिय हैं । खंभों की तरह जो समाज रूपी भवन को साधे हुये हैं, वे वैश्य हैं । इसीलिए आलंकारिक शब्दों में उनको दिव्य पुरुष की जंघा से उत्पन्न बताया गया है । हर प्रकार के कार्यों की हलचल में व्यस्त पैरों की तरह शूद्र समाज के बुनियादी कार्य करते हैं । यदि किसी एक भी वर्ण का कार्य ढीला पड़ जाये तो सामाजिक जीवन की शान्ति व सुख पर उसका बुरा प्रभाव होगा । सभी वर्ण आवश्यक व कीमती हैं, जैसे शरीर के सब अंग बराबर महत्व के हैं । यहां न कोई ऊँच है, न नीच । घृणा और स्पर्धा सामाजिक जीवन के लिए उतने ही हानिकारक हैं जितना कि गुस्से में सब अवयवों का पेट के विरोध में अपने काम बन्द कर देना ।

मिश्री की बनी गुड़िया पूर्णतया मीठी होती है । सिर तोड़ कर खाओ तो मीठी, पैर तोड़ कर खाओ तो भी उतनी ही मीठी । तब उसी एक दिव्यता से उत्पन्न अवयवों की तरह जो वर्ण हैं उनको ऊँचा या नीचा कैसे घोषित किया जा सकता है ? अवयवों में तो भिन्नता है भी लेकिन लाल रक्त सभी में बहता है, सभी में

जीवन देता है । हाथ, पैर या मुख के लिए अलग-अलग रक्त नहीं होता । वर्णों का प्रबन्ध वेदों द्वारा संस्थापित हुआ है, इसलिए यह कभी अन्यायपूर्ण नहीं हो सकता । यह किसी मनुष्य द्वारा आविष्कार की रचना नहीं है । इसलिए जो वर्णों के बारे में अपने अविवेकी आक्षेपों द्वारा ऊँच-नीच की भावना और घृणा उत्पन्न करते हैं वे अज्ञान का ही प्रदर्शन करते हैं ।

"वर्ण व्यवस्था के अन्त होने में ही मनुष्य की भलाई है" ऐसे तर्क करने वालों को देख कर लगता है मानो केवल ये ही लोग मनुष्य के कल्याण की वृद्धि के लिए उत्सुक हैं । उनका विश्वास है कि जो इस प्रबन्ध को लाभदायक कहते हैं, वे यथार्थ में मानव समाज को नष्ट करने के लिए उत्सुक हैं । वास्तव में तो ये दोनों बातें भ्रमपूर्ण हैं । लेकिन इसमें इतना सत्य अवश्य है कि जो वर्ण व्यवस्था के पक्ष में हैं वे मनुष्य की भलाई चाहते हैं । दूसरे सोचते हैं कि वर्ण व्यवस्था के मिटने पर वह खुद देश को बचा लेंगे । उनका यह विश्वास भी भ्रामक है । यदि गुण और दोषों की सावधानी से, बिना पक्षपात के, सूक्ष्म-परीक्षा की जाये तो घृणा और शत्रुता का असभ्य युद्धकाल समाप्त हो जायेगा । इसके बाद वर्ण व्यवस्था के प्रति जनता का दृष्टिकोण बहुत बदल जायेगा ।

घृणा को बढ़ाने से किसी को लाभ नहीं होता । "सब समान है" इस आदर्श का अनुसरण करना मृगतृष्णा द्वारा प्यास बुझाने जैसा है, इससे असंतोष ही मिलेगा, शासकों को चाहिये कि वे जनता के प्रतिनिधियों, जैसे कि पंडितों और अनुभवी वयस्क जनों को बुलाकर उनकी सलाह लें । इस प्राचीन व्यवस्था और सामाजिक संगठन के महत्व पर विचार-विमर्श द्वारा परीक्षण करें । इसके विपरीत अगर बाहरी रूप व लक्षण के आधार पर इसे विषाक्त समझ कर वे आंतकित हो भाग जायें तो वह उनका अज्ञान ही होगा । शासक व पंडित दोनों का उद्देश्य हृदय से जनता को सुखी देखना है । क्योंकि वर्ण व्यवस्था का निर्माण भी इसी लक्ष्य को रख कर हुआ है । इस पर आक्षेप इसलिए लगाये जाने लगे क्योंकि विद्वानों की सलाह से इस व्यवस्था का सर्वदा पालन नहीं किया गया ।

एक छोटा-सा उदाहरण लो । कई देशों ने ऐसे बम बनाये हैं जिसके एक ही विस्फोट से लाखों मनुष्य नष्ट हो सकते हैं । इसकी बुराइयों को जानते हुए भी शासक खुद इसको प्रोत्साहन देते हैं । यदि इनका प्रयोग अपनी-अपनी इच्छानुसार

किया जायेगा तो सभी नष्ट हो जायेंगे । जब विप्लव का डर हो, तब केवल आत्मरक्षा के लिए अन्तिम अस्त्र मान कर ही उसका उपयोग होना चाहिए । इसका लक्ष्य संसार का नाश नहीं बल्कि अपने देश व सभ्यता व गौरव की रक्षा करना है । इसी प्रकार वर्ण व्यवस्था को भी अपने देश व सभ्यता का रक्षक, शक्तिशाली कवच समझना चाहिए । इसके सिद्धान्त, नियम, निषेध व विधि, जनता को नष्ट होने से बचाने के लिए है । इन नियमों का विधिवत व दृढ़ता से पालन करना होता है । स्वेच्छानुसार इसको बर्तना, इसके प्रवाह की दिशा, सीमा, व बांध का ध्यान न रखना, विप्लव को निमन्त्रण देना है ।

इसलिए अनुभवी वृद्धजन, शासक, श्रेष्ठ विद्वान्, पंडित और समाज के नेताओं ने इस व्यवस्था की रक्षा व पोषण द्वारा इसे स्थित रखा । क्षण-भर इस पर विचार करने से सत्य प्रकट हो जायेगा कि यह कल्याणकारी है या नहीं । क्या तुम समझते हो, वह सब पूर्वज मूर्ख थे, या आज की तरह उनमें विद्वता नहीं थी, वे बुद्धिहीन थे ? नहीं, उनकी जैसी बुद्धि, विद्वत्ता, आध्यात्मिक श्रेष्ठता, तीव्र जिज्ञासा, सामाजिक समस्याओं के प्रति उनके न्यायपूर्ण पक्षपात रहित निर्णय आज सौ में से एक ही में मिलेंगे । तपस्वी जिन्होंने अपनी बौद्धिक व मानसिक शक्ति संसार के कल्याण हेतु समर्पित कर दी थी, जिनके लिए यह कार्य अपनी श्वास के समान सहज था, योगी और आध्यात्मिक योद्धा, महर्षि, जिन्होंने मानव समुदाय को सच्चा संतोष देने का प्रयत्न किया, वही समाज व्यवस्था के सच्चे व्यवस्थापक थे जिनका आधुनिक लोग तिरस्कार करते हैं । वे आज के सुधारवादियों जैसे नहीं थे, जो केवल प्रगल्भ शब्दों द्वारा कल्याण की कामना करते हैं और यथार्थ में जिस कल्याण की वे कामना करते हैं, उसको अपने आचरण द्वारा नष्ट करते हैं । प्राचीन मुनि इस प्रकार के छल-कपट को नहीं जानते थे । आधुनिक विचार और उपाय खोखले हैं और दिखावटी हैं । आधुनिक इरादे सिर्फ हवाई किले हैं । संयोजकों के अहंकार की तुष्टि के लिए हैं, जिसका अर्थ भी अन्य लोग पूरी तरह नहीं समझ पाते हैं । एक ओर उनका निर्माण कार्य जारी रहते हुये भी दूसरी ओर से उनका ध्वंस प्रारंभ हो जाता है ।

जिस प्रकार जीवात्मा के लिए शरीर है, उसी प्रकार भगवान् के लिए संसार है । शरीर के किसी भी हिस्से में कुछ भी होने से जीवात्मा पर उसका प्रभाव पड़ता

है । इसी प्रकार संसार के किसी भी हिस्से में कुछ भी होने से भगवान् उसे जान जाते हैं और उसकी उन पर प्रतिक्रिया होती है ।

वे इसका निवारण करते हैं । जिस प्रकार तुम अपने सब अंगों को चुस्त व निरोग रखना चाहते हो, भगवान् भी चाहते हैं कि संसार का प्रत्येक हिस्सा, प्रत्येक देश, सुखी व सन्तुष्ट रहे, क्या वह कभी किसी भी देश को हानि पहुँचाना चाहेंगे जो कि उनका ही एक अंग हैं ? भगवान् से संबंधित मामलों में सभी को एक-सा अधिकार है । सभी भगवान् के लिए समान हैं ।

फिर भी, एक अंग दूसरे अंग का काम नहीं कर सकता है । प्रत्येक को अपने ही हिस्से का कार्य करना है । इसी तरह, प्रत्येक वर्ण को अपने हिस्से के सामाजिक कार्य करने चाहियें और देश के कल्याण के लिए श्रेष्ठ सहयोग देना चाहिये । शरीर की जिस प्रकार अवस्थायें होती हैं, उसी प्रकार समाज में वर्ण होते हैं । यदि सभी व्यापारी बन जायें तो खरीदने वाला कौन होगा ? यदि सब युद्ध में संलग्न हो जायें तो उनके पोषण व पालन के साधन, भोजन, वस्त्र और सामग्री का कौन प्रबन्ध करेगा ? इसलिए हरेक को अपने हिस्से के सामाजिक कार्य द्वारा शान्ति, एकता और सुख को सुरक्षित करना है, यही सही मार्ग व सर्वोत्तम सामाजिक व्यवस्था है ।

आजकल आवश्यक कार्य करने के स्थान पर लोग डरकर परस्पर विनाशकारी झगड़ों में पड़ते हैं कि 'उन्नति के लिए वर्ण ही सबसे अधिक बाधक है' । जो लोग अपने शरीर को वश में नहीं रख सकते, वे अपने देश की मर्यादा कैसे रख सकेंगे । ध्यान रखो कि वर्ण व्यवस्था का पोषण, जिसको इतने प्राचीन काल से पूर्वजों ने सुरक्षित रखा है, वही एक अति कल्याणकारी कार्य है जिसे करना है ।

भगवान् ने वर्ण व्यवस्था संस्थापित करते समय कोई पक्षपात नहीं दिखाया । उनमें ऐसा कोई स्वभाव नहीं है । कुछ लोग पूछते हैं कि भगवान् भेद-भाव क्यों रखते हैं । नहीं, उनमें कोई ऊँच व नीच का भेद-भाव नहीं है । वह मिश्री की तरह पूर्णतया मधुर हैं । भेद-भाव या भिन्नता तो जीवों की विशिष्टता है, जो कि आत्मा की यथार्थता को नहीं जानते हैं । यह लोगों का भ्रम हैं जो कि भूल से अपने को अनात्मा समझ लेते हैं ।

इस उदाहरण पर ध्यान दो : एक माँ के चार बच्चे हैं लेकिन वह तीन बच्चों का इतना ध्यान संभाल नहीं करती है, जितना कि पालने में सोते बच्चे का । बच्चा

उसके लिए न भी चिल्लाये तब भी वह हमेशा उसकी क्षुधा मिटाने को तैयार रहती है। अन्य तीनों को उसके पास आकर भोजन व खिलौने मांगने पड़ते हैं। यह देखकर तुम उसे बुरी या पक्षपाती माँ नहीं कह सकते। माँ अपने कार्य बच्चे की सामर्थ्य व योग्यता देखकर ही व्यवस्थित करती है। पूरा विश्व भगवान् का है। सभी उन्हीं के बच्चे हैं, और उसी प्रकार उन्होंने प्रत्येक को उसकी सामर्थ्य व योग्यतानुसार, समाज के प्रति उसके उत्तरदायित्व का हिस्सा सौंपा है। ऐसे निस्वार्थी, विश्वसनीय, सरल, परम सुखदायी परमात्मा की भूल निकालना सूर्य को अन्धकार कहने की तरह है। अन्धकार और सूर्य की किरणें एक साथ नहीं रह सकती। फिर सूर्य अन्धकार का गृह कैसे हो सकता है? जो लोग सूर्य को ऐसा दोष लगाते हैं वे सूर्य को बिलकुल नहीं जानते हैं। यह भारी भूल और पूर्ण अज्ञान है।

आध्यात्मिक दृष्टिकोण से इन वर्णों का नाम दूसरी प्रकार से यह भी हो सकता है कि जो ब्रह्म के ध्यान में संलग्न हैं वे ब्राह्मण हैं; असत्य का विरोध करने वाले क्षत्रिय हैं; व्यवस्थित प्रणाली द्वारा जो सत्य का असत्य से विवेचन कर लेते हैं वह वैश्य हैं, जो उद्योगी हैं और जीवन में सदा सत्य का पालन करते हैं वे शूद्र हैं। मनुष्य के सुख और कल्याण के लिए ऐसी ही वर्ण व्यवस्था का पालन आवश्यक है।

अब पुनः पूर्व विषय पर आयें। कृष्ण ने अर्जुन से कहा--"मैंने चार वर्णों का निर्माण गुण व कर्म के आधार पर किया है। यद्यपि जहां तक इनका सम्बन्ध है मैं कर्त्ता हूँ, लेकिन फिर भी मैं अकर्त्ता हूँ। मूल सिद्धान्त पर ध्यान देने पर तुम जान जाओगे कि कर्म जो कि मौलिक रूप से जड़ या अचेतन या भौतिक है वह आत्मा को, जो चैतन्य है, प्रभावित नहीं कर सकता है। आत्मा का अन्तरवर्ती गुण अनासक्ति है। इसे अपनी आवश्यकताओं, गुण अथवा प्रभुत्व का भान तक नहीं है। इसमें 'मैं' और 'मेरे' का भाव नहीं होता है, क्योंकि यह अज्ञान के लक्षण हैं। केवल वे ही जो अज्ञान से पीड़ित है अहंकार या "मेरा" भाव से व्यथित रहेंगे। साधारण दृष्टि से लगेगा कि मैं ही कर्त्ता हूँ लेकिन कर्त्ता 'मैं' नही हूँ।

"इतना ही नहीं। कर्म की समाप्ति होने पर भी कर्त्ता पर उसका प्रभाव समाप्त नहीं होता है। यथार्थ में कर्म का प्रभाव कभी भी नहीं मिटता है। कर्म से फल की उत्पत्ति होती है। कर्म के परिणाम से फल की इच्छा उत्पन्न होती है,

परिणाम-स्वरूप और अधिक कर्म करने की प्रवृत्ति होती है, और ऐसी प्रवृत्ति से आगे भी जन्म लेने पड़ते हैं । इस प्रकार कर्म द्वारा जन्म-मरण का चक्र चलता रहता है । यह एक दुष्ट भँवर है, जो तुम्हें अपने चक्कर में घुमा-घुमा कर जल-तल में खींच लेता है ।

अर्जुन एक दूसरे उदाहरण को भी ध्यान से सुनो । कर्म अकेला ऐसे बांधने की सामर्थ्य नहीं रखता है । यह अहंकार कि मैं कर्त्ता हूँ मोह व बन्धन का कारण है । फल प्राप्त करने की इच्छा ही बन्धनकारी है । उदाहरण के लिए शून्य की कीमत इकाई के अंग लगने से ही बढ़ती है । कर्म शून्य है । निमित्त या "मैं कर्त्ता हूँ" की भावना कार्य से जुड़ने पर बन्धन उत्पन्न होते हैं । अर्जुन ! "मैं" का भाव छोड़ देने पर जो भी कर्म तुम करोगे तुम्हें कभी हानि नहीं पहुँचायेगा । फल प्राप्ति की इच्छा को त्याग कर जो कर्म किये जाते हैं, उनसे प्रवृत्ति उत्पन्न नहीं होती । तात्पर्य यह है कि पुनः जन्म पाने की भी रुचि नहीं रहेगी । प्राचीन साधक इसी ऊँचे आदर्श को लेकर कर्म करते थे । वह ऐसा अनुभव नहीं करते थे कि 'मैं कर्त्ता हूँ' या किसी कर्म फल का "मैं ही आनन्द ले रहा हूँ ।" भगवान् ने कार्य किया, भगवान् ने ही फल दिया, भगवान् ने ही उसका आनन्द उठाया, उनकी भावना थी । यही उनका विश्वास था । इस संसार का केवल सापेक्ष शून्य है, और उसका कोई निरपेक्ष अस्तित्व नहीं है । केवल ऐसी उनकी मान्यता थी । अर्जुन ! तुम भी ऐसी भावना और श्रद्धा उत्पन्न करो और विश्वास बनालो । ऐसा करने से तुम्हारा मन स्पष्ट और पवित्र हो जायेगा ।

"कर्म, अ-कर्म और वि-कर्म का अन्तर भी समझो । अब मैं तुम्हें इनके मुख्य भेद बताऊँगा । सुनो, बहुत से साधक इससे भ्रम में पड़ जाते हैं । सब इनके भेद नहीं समझ सकते हैं । वह समझते हैं कि स्वधर्म ही कर्म है । जो धर्म न समझकर किन्तु आत्म ज्ञान प्राप्ति की इच्छा से किये जायें वे सब कर्म वि-कर्म हैं । कोई भी कर्म हो, यदि वह अज्ञान के अंधकार में भ्रमित हो किया गया हो तो वह कर्म चाहे जितनी प्रवीणता से किया गया हो, उसका परिणाम, चिन्ता, शोक व कष्ट ही होगा । इससे चित्त की स्थिरता, संतुलन और शांति कभी नहीं मिलेंगे । मनुष्य को भी कर्म द्वारा अकर्म और अकर्म में कर्म को जीतना होगा । बुद्धिमानों के यही लक्षण है ।

कुछ लोग कर्म न करने को ही अकर्म कहते हैं । लेकिन सरल भाषा में इसको समझाया जाये तो यह अर्थ होगा कि अवयवों, इन्द्रियों, बुद्धि, अनुभव भावनाओं एवं मन की क्रियायें सब कर्म ही है । अब अकर्म का एक और अर्थ "कर्म रहित", भी है । यह आत्मा का गुण है । इसलिए अकर्म का अर्थ आत्मस्थिति है, यह आत्मा का विशिष्ट गुण है । जब तुम बस, रेल या जहाज से यात्रा करते हो तो भ्रम होता है, मानों दोनों ओर पहाड़ और वृक्ष यात्रा कर रहे हैं और तुम अचल खड़े हो । वाहन की गति ही, पहाड़ व वृक्ष की गतिशीलता का गुण देते हैं, इसी प्रकार मनुष्य शास्त्रों में निर्दिष्ट सिद्धान्तों से अनभिज्ञ हो, भ्रमपूर्वक विश्वास करता है कि आत्मा ही इन्द्रिय व शरीर के सब कार्य करती है फिर क्या सच्चा अकर्म क्रिया हीनता है ? आत्मा का अनुभव ही सम्पूर्णतया कर्म विहीन अकर्म है । वही तुम्हारा वास्तविक स्वभाव है । बाह्य कर्मों को न करने से काम नहीं चलेगा । तुम्हें आत्मिक सिद्धान्तों को समझना चाहिए, केवल कर्म का ही त्याग नहीं करना है । क्योंकि सर्वथा बिना कुछ कार्य किये रहना असम्भव ही है ।

दसवाँ अध्याय

"धनंजय ! पंडित कहलाने का अधिकारी वही हो सकता है जिसने कर्म और अकर्म के बीच का अन्तर स्पष्ट रूप से समझ लिया हो । पुस्तक में दिये गये विषय को दिमाग में भर लेने से ही कोई पंडित नहीं बन जाता । पंडित की बुद्धि सत्य को प्रत्यक्ष कर दिखाने वाली होनी चाहिए : सम्यक् दर्शन । ऐसी दृष्टि पाने से कर्म प्रभावहीन हो जाते हैं व हानिकारक नहीं रहते । ज्ञान की अग्नि में कर्म को जलाकर नष्ट करने की शक्ति है ।

कुछ लोगों का कहना है कि ज्ञानी को भी पूर्व कर्म के परिणाम अवश्य सहने चाहियें । वह उनसे छुटकारा नहीं पा सकता । दूसरे लोगों का ऐसा ही अनुमान

है, लेकिन खुद ज्ञानी का अनुभव ऐसा नहीं है । इसका निरीक्षण करने वालों को भले ही पूर्व कर्म फल को भोगते हुए दृष्टिगोचर होवें, लेकिन यथार्थ में तो वह सर्वथा इनके प्रभाव में नहीं होता है । जो सुख के लिए पदार्थों पर निर्भर रहते हैं या इन्द्रिय सुखों का पीछा करते हैं, प्रवृत्तियों और इच्छाओं से प्रेरित हैं वही कर्म बंधन में जकड़े जाते हैं । लेकिन जो इन सबसे मुक्त है उन्हें शब्द, स्पर्श, रस, गंध या अन्य इन्द्रियों के आकर्षण का लालच प्रभावित नहीं कर सकता । सच्चे संन्यासी के यही लक्षण हैं, वह अविचलित रहता है । ज्ञानी अपने में ही परमानंदमय है, और दूसरों पर इसीलिए निर्भर नहीं रहता । वह कर्म में अकर्म पाता है और अकर्म में कर्म । कर्म करते हुए भी उसका उस पर प्रभाव नहीं पड़ता । उसका ध्यान भी कर्मों के फल पर नहीं है ।

"तुम पूछोगे कि वह ऐसा कैसे कर पाता है ? वह सर्वदा संतुष्ट रहता है । एक संतुष्ट व्यक्ति स्वतंत्र रहता है और किसी पर निर्भर नहीं रहता । किसी कार्य का यह स्वयं भी निमित्त है, ऐसी भावना से वह प्रभावित नहीं होता है । वह उसी में सतुष्ट है, चाहे निरोग हो या बीमार क्योंकि उसे विश्वास है कि जो भगवान् की इच्छा होगी वही होगा ।उसका मन अविचलित और स्थिर रहता है, वह सदा प्रसन्न रहता है । असंतोष अज्ञानी का लक्षण है । जो पुरुषार्थ छोड़ देते हैं वे आलस्य का मार्ग अपनाते हैं । वे जो कुछ भी हो, सुखी कैसे माने जायेंगे ? ज्ञानी को संतोष का खजाना मिल जाता है, परन्तु अज्ञानी को यह नहीं मिलता है, क्योंकि वह एक इच्छा पर दूसरी का ढेर, एक विचार पर दूसरा विचार बांधता है, हमेशा घुलता रहता है, चिंतित रहता है. अपना हृदय लालच की आग में झोंके रहते है, उसे संतोष की प्राप्ति नहीं होती ।

सुख और शोक, जीत और हार, लाभ या हानि का युगल ज्ञानी को पराजित नहीं कर सकता । वह तो द्वन्द्वातीत है ।घृणा को वह बुरा समझता है, अपने पर उसका प्रभाव नहीं पड़ने देता । आत्मा के स्वरूप और स्वभाव दोनों निश्चित करते हैं कि आत्मा अप्रभावित रहने वाला है, असंग हैं । अनात्मा का प्रभाव उस पर नहीं हो सकता । उसे न जन्म, न मरण, भूख या प्यास, शोक या भ्रम नहीं है । भूख-प्यास तो प्राणों के गुण हैं; जन्म व मरण शरीर के लक्षण हैं; शोक और भ्रम मन के रोग हैं । इसलिए, अर्जुन इनको कोई स्थान न दो, अपने को आत्मा समझो । सब भ्रमो

को हटाकर मोह त्याग दो । संसार के दलदली सरोवर में कमल के पत्ते की तरह बनो । आस-पास की कीचड़ को अपने पर न आने दो । यही अ-संग का चिह्न है कि वह अन्दर होते हुये भी उससे अलिप्त है । कमल के पत्ते की तरह । 'सोख्ता' की तरह नहीं जिस पर प्रत्येक संपर्क धब्बा लग जाता है ।

अपनी शुद्ध चित्त-वृत्ति और मानसिक भावनाओं के शुद्ध जल द्वारा आत्मलिंग का अभिषेक करो । जब चित्त एक ओर जा रहा हो और इन्द्रियाँ दूसरी ओर तब मनुष्य इस दुविधा से व्याकुल हो जाता है । इसलिए मोह को दूर रखो । ऐसा होने पर जो कुछ भी तुम करोगे वह यज्ञ बन जायेगा । वह उसके लिए बलिदान माना जायेगा । जो कुछ तुम बोलोगे शुद्ध मंत्र बन जायेंगे, जहाँ तुम्हारे पग पड़ेंगे, वह स्थान तीर्थ हो जायेगा ।

अर्जुन ! मैं तुम्हें यज्ञ के बारे में भी कुछ कहूँगा । चित्त वृत्तियों की सब व्याकुलताओं को रोककर, शांत होकर, सुनो । लोग द्रव्य-यज्ञ, तपो-यज्ञ योग-यज्ञ इत्यादि की बातें करते हैं । पृथ्वी में यदि एक गड्ढा खोदा जाय तो निकाली हुई मिट्टी का पास में एक टीला बन जायेगा । जहाँ गड्ढा होगा वहाँ टीला भी होगा । कोई भी गड्ढा बिना टीले के नहीं होता । एक जगह जितना धन एकत्रित हो जाता है तब वहाँ उतना ही दान होना चाहिए । अपने धन का उचित उपयोग क्या है ? गौ, भूमि और कौशल का दान, द्रव्य-यज्ञ माना जाता है । फिर सब शारीरिक व मानसिक क्रियायें और वाणी, साधना के उपयोग में लाई जाने पर, तपोयज्ञ कही जाती है । एक बार भोजन न मिलने से यदि तुम कमजोर हो जाओ तो वह तप कैसे माना जायेगा ? कर्म करते हुए भी कर्म में न बँधना ही योग-यज्ञ है ।

और स्वाध्याय यज्ञ ? इसका अर्थ है मोक्ष और स्वतन्त्रता की ओर तुम्हें ले जाने वाले पवित्र ग्रन्थों का नम्रता व श्रद्धा से अध्ययन करना । इस प्रकार का अध्ययन उन ऋषियों का ऋण चुकाना है जिन्होंने इन धर्मो का संकलन किया । दूसरा ज्ञान-यज्ञ है । इसका अर्थ साक्षात् दीखने वाली वस्तु का ज्ञान नहीं किन्तु अदृश्य और अगोचर का ज्ञान है (परोक्ष ज्ञान, अपरोक्ष ज्ञान नहीं) । इस ज्ञान से सम्बन्धित शास्त्रों को सुनो--अध्ययन करो । उनकी शिक्षा पर अपने मन में विचार करो और उनके पक्ष-विपक्ष की तुलना करो । यह ज्ञान-यज्ञ है । वृद्ध,

विद्वान् व आध्यात्मिक अनुभवियों द्वारा प्राप्त आत्म तत्व के ज्ञान को समझने की उत्कंठा भी ज्ञान है ।

अर्जुन! तुम पूछोगे कि ऐसा ज्ञान कैसे प्राप्त होता है ? जिनको इसे पाने की उत्कंठा है उन्हें चाहिए कि वे आत्म-साक्षात्कार प्राप्त व्यक्तियों के पास जायें, उनकी कृपा प्राप्त करें, उनकी चित्त-वृत्ति व व्यवहार को समझ कर अपनी सहायता के लिए उचित अवसर की प्रतीक्षा करें । कोई संदेह उठने पर शांति व निडरता से उनके पास पहुँचें । पुस्तकों की गठरियाँ पढ़ लेना, घन्टों लम्बे भाषण देना व भगवा पहिनने से कोई सच्चा ज्ञानी नहीं बन जाता । ज्ञान तो विद्वान, अनुभवी व आत्म ज्ञानी वृद्ध जनों द्वारा ही प्राप्त होता है । तुम्हें उनकी सेवा द्वारा उनका प्रेम जीतना होगा । केवल पुस्तकों के पढ़ने से शंकायें कैसे दूर हो जायेंगी ? उनसे तो मन और भी व्याकुल हो सकता है ।

पुस्तकें अधिकतर कोई सूचना ही दे सकती है । वे प्रमाण द्वारा कुछ प्रत्यक्ष नहीं करा सकतीं । यह तो सिद्ध-साधक ही प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा विश्वास दिला सकते हैं । इसलिए उनको ढूँढ़कर उनकी आदर-पूर्वक सेवा करनी चाहिये । तभी यह अमूल्य ज्ञान प्राप्त हो सकता है । समुद्र का पानी जितना भी पी लो प्यास नहीं मिटेगी, कितने भी धर्म शास्त्रों का अध्ययन कर लो, संदेह निवारण नहीं हो सकेंगे ।

इसके अलावा, ज्ञान के इच्छुक में भक्ति व श्रद्धा ही नहीं, उसमें सरलता और पवित्रता भी होनी चाहिये और उन्हें अपनी अधीरता से गुरु को संताप नहीं देना चाहिए । शीघ्रता करना सफलता के मौके खोना है । गुरु की शिक्षा के आधार पर निरन्तर अनुभव और अभ्यास करें । प्रत्येक सुने या सीखे हुए उपदेश का प्रयोग शीघ्र ही ज्ञानी बनने के लिए नहीं करना चाहिये । ऐसा करने से तुम उलटे पूर्ण अज्ञानी बन जाओगे । ठीक ही है इससे तो अज्ञानी ही बने रहना अच्छा है । क्योंकि ऐसे लोग पागल भी हो जाते हैं, इसलिए बहुत सावधान रहना आवश्यक है ।

गुरु की आज्ञा पालन और उनकी प्रेमपूर्वक सेवा द्वारा प्रसन्न कर उनका अनुग्रह प्राप्त करने का तुम्हें प्रयत्न करना चाहिये । तुम्हें मन में सिर्फ उनकी कुशलता व सुख के सिवाय दूसरा विचार नहीं उठने देना होगा । सब कुछ त्याग

कर पहले उनकी कृपा प्राप्त करो । तब तुम्हें ज्ञान प्राप्त होगा । ऐसा न कर यदि तुम अहंकार और अश्रद्धा वश उनकी आज्ञा उल्लंघन कर समालोचन करोगे तो तुम्हें सत्य का दर्शन नहीं होगा, तुम शोक सागर में ही गिरे रहोगे ।

गाय जिस प्रकार अपने बछड़े को देखते ही पास आ जाती है, गुरु उसी प्रकार अपने शिष्य को पास बुलाकर कृपा रूपी क्षीर देता है । शिष्य का चरित्र शुद्ध होना चाहिए । फिर जैसे एक शुद्ध लोहे का टुकड़ा चुम्बक से आकर्षित होता है, शिष्य की ओर भी गुरु का ध्यान आकर्षित होगा ।

शिष्य गुरु की योग्यता भी जाँच सकता है । यथार्थ में उसे ऐसा करना ही चाहिये । क्योंकि उसे गुरु की आवश्यकता है । अर्जुन, गुरु के आवश्यक गुणों का वर्णन मैं करूँगा । उसे केवल पुस्तक-ज्ञान मात्र न होकर प्रत्यक्ष स्वानुभव द्वारा ज्ञान होना चाहिये । उसे यथार्थ में सत्य यानि ब्रह्म-निष्ठा में प्रतिष्ठित होना चाहिए । केवल शास्त्र-ज्ञान मुक्ति नहीं दे सकता । इससे अधिक से अधिक मुक्ति पाने में मदद भर मिल सकती है । क्यों ! कुछ ऐसे भी हैं जिन्हें बिना एक बूँद शास्त्र-ज्ञान ही मुक्ति प्राप्त हुई है । लेकिन ऐसे लोग संदेह से व्याकुल शिष्यों को नहीं बचा सकते । वे उनकी कठिनाइयों को समझकर सहानुभूति नहीं दे सकते ।

लाखों, करोड़ों नाम-मात्र के गुरु पड़े हैं । अब सभी गेरुआ पहनने वाले गुरु कहलाते हैं । जो गाँजा पीते हैं, वे भी गुरु हैं; जो वाद-विवाद, तर्क करते हैं वे भी गुरु हैं । लेखक गुरु हैं । देश-भर में भ्रमण कर तर्क शास्त्र सीखने वालों को भी इस नाम पर कोई अधिकार नहीं है । गुरु में स्वानुभव द्वारा शिष्य को उन्नत कर, शास्त्रों द्वारा निर्दिष्ट साधना-पक्ष पर अग्रसर करने की शक्ति होनी चाहिए । केवल तर्क-कौशल किस काम का है ? गुरु जो कुछ भी कहता है वह शास्त्रों द्वारा मान्य होनी ही चाहिये । पुस्तकों से प्राप्त लम्बे भाषणों की झड़ी द्वारा जो श्रोतागण को उत्तेजना की एक लहर से दूसरी पर झुला दे, गुरु नहीं कहा जा सकता । वे भाषण-वीर हैं किन्तु साधन में और आध्यात्मिक क्षेत्र के प्रभुत्व में शून्य होते हैं । वे पाठशालाओं के प्रधान शिक्षक बन सकते हैं । लेकिन भक्ति नहीं दे सकते, न मोक्ष मार्ग दिखा सकते हैं । यह गुरु उसी अवस्था तक सीमित हैं और उनके आश्रित शिष्य भी उनसे उतना ही लाभ प्राप्त करते हैं । पुस्तक के समान ही लाभ प्राप्त करते हैं । पुस्तक के समान ही उनका मूल्य हो सकता है । बहुत से असावधान

साधन ऐसे दिखावटी गुरुओं के प्रति उनके वाग्जाल और मौखिक कलाबाजी से आकर्षित होते हैं । वे भले ही पंडित कहलायें, भाषण दें, लेकिन केवल उतने से ही वे ज्ञान का आशीर्वाद देने योग्य नहीं बन जाते । यह तो अवतारों, देव-अंश से संभूतों और उन तत्वविदों का कार्य जिन्होंने परमात्मा का साक्षात्कार कर लिया है (यानी मनुष्य रूप में भगवान् दैविक गुण और प्रतिभावान व्यक्ति और ज्ञानी जिन्होंने आध्यात्मिक साधना की श्रेष्ठता प्राप्त की है और सर्वोत्तम परमानन्द का अनुभव किया है) । अपूर्ण अनुभव करना निरर्थक है । पूर्ण ब्रह्म परमेश्वर की संपूर्ण अनुभूति करनी चाहिये । जिनका आंशिक ज्ञान है, वह तुम्हें उसी अंश तक ही ले जाकर बीच में ही त्रिशंकु की तरह, जो आसमान और पृथ्वी के बीच लटका दिया गया था, छोड़ देंगे ।

मार्ग-दर्शन के आकांक्षी साधक के गुण व आचरण का गुरु द्वारा अध्ययन होना चाहिये । उसे शिष्य के धन, पदवी व स्थिति से अप्रभावित रहना चाहिये और साधक के हृदय व सत्य स्वभाव की ठीक परख करनी चाहिए । अज्ञान की नींद में प्रसुप्त शिष्य के लिए एक घड़ी की घंटी की तरह उसे कार्य करना है । यदि गुरु कंजूस निकला और शिष्य आलसी तो दोनों का बेढ़ा गर्क !

इस प्रकार कृष्ण ने अर्जुन को बहुत स्पष्ट रूप से गुरु और शिष्य दोनों के गुण, व्यवहार, विद्वत्ता, योग्यता, दुर्बलता, आचरण और स्वभाव पर उपदेश दिया । उपदेश के यह अमूल्य रत्न सिर्फ अर्जुन ही नहीं, पूरे विश्व के लिए थे । वे सब जो गुरु या शिष्य होना चाहते हैं, उनको इन बहुमूल्य शब्दों पर ध्यान देना आवश्यक है ।

आधुनिक गुरु और शिष्यों का स्वभाव आज के निम्न स्तर के वातावरण जैसा ही है । प्राचीन काल में गुरु की प्राप्ति बहुत कठिनाई से होती थी । हजारों आकांक्षी उनकी खोज में घूमते थे, वे इतने दुर्लभ और बहुमूल्य थे । अब तो दर्जनों की संख्या में सैंकड़ों गुरु हर गली के कोने पर मिलते हैं, लेकिन सच्चे शिष्य गिनती में कम होते जा रहे हैं । निम्न स्तर पर दोनों तीव्रता से गिरकर एक दूसरे के अनुरूप होते जा रहे हैं । गुरु भी शिष्यों को खिलाने और पोषण करने वाली आवश्यकता मात्र ही रह गये हैं । यदि शिष्य योग्य हो तो इसमें कोई बुराई नहीं । लेकिन गुरुओं को डर इस बात का है कि कहीं शिष्य उन्हें छोड़ कर चले न जायें । इस लिए उन्हें शिष्य

की रुचि और भावनाओं की तुष्टि करनी पड़ती है । शिष्य गुरु-पुत्र आश्रमवासी साधक इत्यादि कहे जाते हैं, पर उनके जीवन पर आश्रम के वातावरण, साधना या साधु गुरुओं का कोई प्रभाव नहीं पड़ता । गुरु के लिए उनके मन में जरा भी कृतज्ञता नहीं होती । मुँह से तो वह "कृष्णार्पणम्" के नारे लगाते हैं और उनके कार्य 'देहार्पणम्,' (शरीर को समर्पण, भगवान् को नहीं) ही प्रकट करते हैं ।

यही नहीं, शिष्य अपनी शर्तें रखते हैं कि गुरु उनके मनोरंजन, सुगमजीवन और आराम की इच्छाओं का सम्मान करें । हानि और चिन्ता से मुक्त रखें, किसी प्रकार की साधना के लिए आग्रह न कर शिष्य के पूर्ण सुख का प्रबन्ध करें और फिर मोक्ष सीधा उनकी नींद में पके फल की तरह आकर गिर पड़े । गुरु किसी भी कड़े अनुशासन या नियमित जीवन की सलाह न दे । शिष्य की वे सब इच्छाओं का आदर करें । और यदि गुरु शिष्य का विरोध करें तो उसको एकदम छोड़ दिया जाये और उसकी निंदा की जाये ।

ग्यारहवाँ अध्याय

अत्यधिक दुलार में पले, आराम पसन्द लोग कैसे मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं ? किसी गुरु को ऐसे शिष्य न मिलें तो वह अपना भाग्य क्यों कोसे ? किन्तु ऐसे व्यक्तियों को अपनी ओर आकर्षित होते न देख पछताने वाले गुरुओं की भी कमी नहीं है । यह आश्चर्य की बात है । अफीम खाने वाले, गाँजा पीने वाले गुरु होने की योग्यता नहीं रखते । वे केवल मक्कार होते हैं । जो हमेशा अपनी पूरी शक्ति अपने निर्वाह की सामग्री जुटाने में लगाते हैं, वह गुरु कैसे बन सकते हैं ? और इन्द्रिय सुख के आकांक्षी शिष्य भी कैसे बन सकते हैं ? यह धन-गुरु है तो वह मद-शिष्य है; ऐसों को गुरु और शिष्य कहना इन पवित्र नामों को धूलि में गिराना, अपमानित करना है ।

तब सच्चा गुरु कौन है ? जो मोह के मार्ग को नष्ट करने की शिक्षा देता है वही सच्चा गुरु है और सच्चा शिष्य कौन ? वह जो बाह्य वस्तुओं की ओर भागते हुए मन को नियंत्रण में रखने और वशीभूत करने का प्रयत्न करता है । आजकल के गुरु अर्धरात्रि तक बत्ती के नीचे बैठकर, जिन विषयों को दिमाग में एक दिन पूर्व भरते हैं, उन्हें नित्य मंच पर चीख-चीख कर सुनाते हैं । उनका यह नाटक एक बार निगले खाने को बाहर वमन करना जैसा ही है, अन्य कुछ नहीं । तोते की तरह रटी हुई बातें ही वे बार-बार दुहराते हैं । लालच और क्रोध को नियंत्रण में रखना ही चाहिए, इस बात को छोटे बालक भी समझते हैं; लेकिन इन लोगों की बातों में प्रत्येक छोटे-छोटे शब्द व कार्यों में भी लालच और क्रोध, ईर्ष्या और घृणा, काम और अहंकार पिशाच की तरह झांकते है । यदि अपने को गुरु कहलाने वाले ही इन दुर्व्यसनों पर नियंत्रण नहीं रख सकेंगे तो फिर इनके आश्रित, अभागे शिष्य कैसे उन्नति कर सकेंगे ? यदि गुरु एक महान् त्यागी, स्वार्थ-रहित, सबके लिए समान करुणा भाव से भरा हुआ, सत्य को आश्रय देने वाला है, और जिसकी आत्मा शक्तिदायक विचारों से व्याप्त है, और जो सबके जीवन को शोक-रहित बनाने के प्रयत्न में है, व जिसका जीवन मधुर और सरल है; दूसरों को सन्मार्ग और सतोगुणी जीवन-पथ पर ले जाने में ही संतुष्ट होता हो, तब शायद उसके पास कम शिष्य ही पहुँचेंगे । वरन् ऐसे गुरु पर दोष थोपे जायेंगे, उस पर कलंक लगाए जाएगे और उसकी पवित्रता और सचाई पर संदेह किया जायेगा । लेकिन गुरु सर्वदा पवित्र रहेगा, उसे कोई हानि नहीं होगी । हानि एक महान् अवसर खोने वाले शिष्यों की होगी ।

एक बात निश्चय जानो । चाहे जितनी दूर तक जाओ, अनेकों गुरु बनाओ, उनकी सेवा करो, किन्तु जब तक "मैं शरीर हूँ" इस भ्रम को दूर नहीं हटा दिया जायेगा, परमात्मा प्राप्त नहीं हो सकता । इस भ्रम के रहते, सब ध्यान, सब जप, सभी तीर्थों के जल में स्नान भी तुम्हें सफलता प्रदान नहीं कर सकेंगे । तुम्हारे सम्पूर्ण प्रयत्न छिद्र वाले बर्तन से कुयें से पानी निकालने की तरह व्यर्थ हो जायेंगे ।

अपने कर्त्तव्य करने वाले गृहस्थ जो अपने आश्रम धर्म का पालन करते हैं, सही मार्ग पर चलते हैं और निरन्तर परमात्मा के ध्यान में मग्न रहते हैं ऐसे साधुओं से सदैव उत्तम माने जायेंगे । ऐसे गृहस्थाश्रमियों को अपने लक्ष्य की प्राप्ति हो जाती

है । आजकल के गुरु और शिष्यों के स्वभाव पर विचार किया जाये तो कई ग्रन्थ लिखे जा सकते हैं, लेकिन ऐसा करना बहुमूल्य समय को अनावश्यक विवेचन द्वारा नष्ट करना होगा । इसलिए अब अपने मुख्य विषय पर वापस आते हैं ।

आज के गुरु-शिष्य सम्बन्ध की, कृष्ण और अर्जुन के पवित्र गुरु-शिष्य सबध से तुलना करना पवित्रता को भ्रष्ट करना है । वे दोनों अपूर्व, अनुपम, उत्तम युगल, अन्य किसी की भी पहुँच से परे हैं । सब शिक्षक और साधनों को इसी आदर्श पर चलना चाहिए । नम्र और दीन भाव पूर्ण अर्जुन ने शुद्ध हृदय से अपने गुरु के उपदेशों का पालन किया । अर्जुन के लिए जो लाभप्रद है उसी का कृष्ण ने पोषण किया । जिससे अर्जुन की नेकनामी हो, उसे आत्म-आनन्द मिले, धर्म की वृद्धि हो उसमें कृष्ण ने पूर्ण रूप से सहायता की । अपनी श्वास की तरह उन्होंने अर्जुन की रक्षा और पोषण किया । भगवान् इस प्रकार के गुरु थे, अर्जुन के लिए ।

कृष्ण परम-आत्मा हैं; अर्जुन जीवात्मा । कृष्ण पुरुषोत्तम तो अर्जुन नरोत्तम हैं । इसी कारण से वे आदर्श गुरु-शिष्य हैं । अन्य नाम-मात्र के गुरु शिष्य होते हैं । हठी शिष्य और अधिकार उन्मत्त गुरु निरर्थक कार्यों में अपना समय नष्ट करते हैं । कृष्ण प्रेम के सागर हैं । अर्जुन का ध्यान उन्होंने इस प्रकार रखा जैसा नेत्र और हृदय का रखा जाता है । उन्होंने पवित्रता का उपदेश दिया और उसे पवित्रता में बदल दिया । उन्होंने उसे प्रेम दिया व पूर्ण प्रेम पाया । इस प्रकार गुरु यथार्थ में गुरु बनता है । और अर्जुन ? वह कोई साधारण मनुष्य नहीं । वह अद्वितीय त्यागी था । कितना भी संकट आया, उसने कृष्ण की आज्ञा का अक्षरश पालन किया । कृष्ण की मैत्री उसने प्रत्येक संकट से बचाने वाले कवच की तरह धारण की और उस मैत्री को अपना शरीर समझ जिसके अन्दर स्वयं परमात्मा आसीन हैं, उसकी रक्षा व पोषण कर उसे सशक्त रखना अत्यन्त आवश्यक समझा । महान् पराक्रमी होते हुए भी, आवश्यकता पड़ने पर उस शरीर को भी मिटाने के लिए वह तैयार था ।

प्रेमस्वरूप भगवान् ने अपने शिष्य की सच्चाई को पहचाना, उनकी योग्यता का सम्मान किया और आत्म-ज्ञान के गौरव और लाभ का सविस्तार वर्णन किया । "कौन्तेय," उन्होंने कहा, "ज्ञान द्वारा तुम अपने में व मुझमें सब प्राणियों को देख सकोगे । फिर जिस प्रकार सूर्योदय होने से अन्धकार मिटने लगता है उसी

प्रकार द्वैत और उसके परिणाम-स्वरूप उत्पन्न भ्रम भी लुप्त होने लगेगा " ।

अर्जुन ! मैं तुम्हारा भूतकाल एवं जन्म के पिछले वृत्तांत अच्छी तरह जानता हूँ । तुम्हारा साधारण जन्म नहीं है । तुम दैवी सिद्धि के उत्तराधिकार के साथ जन्में हो । सिवाय मेरे अन्य किसी को इसका बोध नहीं । चूंकि यह तुम्हें मालूम नहीं है इसलिए तुम अपने को सगे-संबंधियों को मारने वाला पापी समझ, अपने को हेय समझ रहे हो ।

यदि तुमने पाप किया ही है तो क्या पापियो की रक्षा नहीं की जा सकती ? पाप को पवित्रता में बदलने के लिए पश्चाताप ही पर्याप्त है । पश्चाताप को कृपापूर्वक स्वीकार कर भगवान् अपना आशीर्वाद बरसाते हैं । ज्ञान उदय न होने तक रत्नाकर नामक डाकू पाप कर्मो मे संलग्न था ! लेकिन पश्चाताप करने पर ऋषि बाल्मीकि बन गया, ठीक है न ? उसकी कहानी पश्चाताप के महत्व का प्रमाण है । तुम पूछोगे कि क्या इस प्रकार केवल पाप के फल से मुक्त हो जाना ही पर्याप्त है ? इसी प्रकार क्या पुण्य के फलों को भी नहीं त्यागना चाहिए ? क्यों नहीं; मनुष्य को पुण्य को त्यागने की स्वतंत्रता मिली है हालांकि उसे पाप के फल को त्यागने की उतनी स्वतंत्रता शायद न हो । जिस प्रकार जंगल की आग मार्ग में पड़ने वाली प्रत्येक वस्तु को राख बना देती है उसी प्रकार ज्ञान का प्रचंड दावानल संपूर्ण पाप और सम्पूर्ण पुण्य को जलाकर नष्ट कर देता है ।

इस पवित्र आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति के लिए एक वस्तु आवश्यक है : निष्ठा । शास्त्रों और शिक्षकों से ज्ञान-प्राप्ति में अटल विश्वास । निष्ठा से उत्पन्न प्रेरणात्मक उत्साह के बिना कोई छोटे से छोटा कार्य भी मनुष्य सम्पन्न नहीं कर सकता । इसलिए अब तुम स्वयं देख सकते हो कि ज्ञान-प्राप्ति के लिए यह कितना आवश्यक है । श्रद्धा वह अतुलनीय तिजोरी है जिसमें साम, दाम, उपाधि, तितिक्षा और समाधान, रूपी मूल्यवान गुण संचित हैं ।

निष्ठा तो केवल पहला कदम है । मेरे उपदेश को ग्रहण करने की तुममें तीव्र उत्कंठा होनी बहुत ही आवश्यक है । इसके साथ ही तुम्हें सचेत रह कर आलस्य से बचना होगा । तुम ऐसी संगति में पड़ सकते हो जो बेमेल प्रकृति की हो एवं प्रोत्साहन न देने वाली हो । ऐसी संगति के दुष्ट प्रभाव से बचने और अपने मन को शक्तिमान करने के लिए और उससे हमेशा के लिये बचने के लिये, इन्द्रियों पर

नियन्त्रण रखना आवश्यक है ।

अपने मन में किसी भी संदेह को न आने दो । निष्ठा या अटल विश्वास का अभाव भी इतना अनिष्ट नहीं करता जितना कि संदेह का विष । सन्देह का कार्य और परिणाम क्षय रोग के कीटाणु की तरह होता है । अज्ञान से यह उत्पन्न होता है, व्यक्ति के हृदय के छिद्र मे घुस कर वहाँ यह पनपता है । विनाश का यही जन्मदाता है ।

इसीलिए इस दैत्य को आत्म-ज्ञान की तलवार से नष्ट कर दो । उठो अर्जुन! कर्त्तव्यबद्ध होकर कार्य करो । मेरे शब्दों पर विश्वास रखो । कार्य के परिणाम पर विचार न कर जो मैं कहता हूँ वही करो । निष्काम-कर्म के अभ्यासी बनो । इस त्याग से तुम ज्ञान मे प्रतिष्ठित हो जाओगे । क्षण-भंगुरता और अनित्यता से मुक्त होकर जन्म मरण के बन्धन से छूट जाओगे ।

तुम कर्त्ता हो अथवा तुम लाभ प्राप्त कर्त्ता हो, इस विचार को त्याग दो । कर्म और फल दोनों भगवान् को अर्पण करने से यह सम्भव हो सकेगा । तब तुम्हें पाप भी नहीं लग सकता क्योंकि कर्त्तापन का भाव तुममें नहीं है, और कार्य भी पवित्र हो चुका है । जीभ पर तेल, आँख के काजल और कमल के पत्ते पर जल की तरह, कार्य का तुम्हारा साथ है, लेकिन तुम्हारी ओर से नहीं है । कर्त्तापन की भावना को त्यागने से जो भी तुम करोगे, सुनोगे उसका तुम पर प्रभाव नहीं पड़ेगा और न उसका दोष ही लगेगा । बाह्य संसार से प्राप्त सुख ही शोक के खुले द्वार हैं । बाह्य सुख क्षणिक है, तुम नित्य हो, परम आनन्द के स्रोत हो, इससे भी परे और ऊँचे तुम्हीं स्वयं आत्म-स्वरूप हो । यही तुम्हारा सत्य स्वभाव है । इन कार्यों और उनके परिणामों से, जिन्हें तुम अब सत्य समझते हो, तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं है । तुम कर्त्ता नहीं हो, तुम केवल साक्षी हो, द्रष्टा हो ! तुम्हारा अहंकार, 'महत्व' की भावना और 'तुम ही कर्त्ता हो' यह भ्रम ही तुम्हारी घबराहट का कारण है । वाह्य का ज्ञान प्राप्त करो । कर्म करो, किन्तु फल का त्याग करो । कर्म के फल का त्याग, कर्म का त्याग करने से अधिक श्रेष्ठ है ! कर्मयोग, कर्म संन्यास से श्रेष्ठ है ।

और इन दोनों से श्रेष्ठ ध्यान-योग है । क्यों है, यह मैं तुम्हें बताऊँगा । ध्यान-योग के लिए कर्मयोग का सहारा चाहिए, इसलिए तुम्हें प्रथम कर्मयोग की शिक्षा दी गई । कर्म में तीव्रता से व्यस्त होते हुए भी जो कर्म के फल का त्याग करते

हैं, वे मुझे बहुत प्रिय हैं! वे ही सच्चे संन्यासी और सच्चे त्यागी हैं । मुझे वे लोग प्रिय नहीं हैं जो शास्त्रोक्त अग्निहोत्र त्यागते हैं तथा खाने, सोने व इन्द्रिय सुखों में लालसा रखने के अतिरिक्त कुछ नहीं करते व कुम्भकर्ण की तरह आलस्य में समय नष्ट करते हैं । ऐसे समय नष्ट करने वाले मुझ तक कभी नहीं पहुँच सकते । जिसने अपनी इच्छाओं का पीछा नहीं छोड़ा है वह कभी योगी नहीं बन सकता, फिर चाहे वह कितनी भी साधना करे । जो अपने को इन्द्रियों में फँसने से बचाकर रखता है, जो अपने कर्म-फलों में आसक्ति नहीं रखता वही सर्व-संग परित्यागी (सब प्रकार के मोह को त्यागने वाला) बन सकता है ।

निष्काम-कर्म का आधार होने से ही ध्यान-योग सम्भव है । यदि मन नियंत्रण में न हो और आज्ञाओं का पालन न करता हो तो वह तुम्हारा सबसे बड़ा शत्रु बन सकता है । इसलिए एकांतवास करो जिससे सब इन्द्रियाँ तुम्हारे वश में हो सकें । बेलगाम घोड़ा, बिना जुता बैल और इन्द्रियों को वश में न कर सकने वाला साधक, सब सूखी नदी की तरह हैं । इनकी साधना व्यर्थ होती हैं ।

अर्जुन, अब उठो! ध्यान-योग का अभ्यास करो । इस योग द्वारा इन्द्रियों को वश में रखने का निश्चय करो, इसका दृढ़तापूर्वक, व्यवस्थित क्रम से, नियमितता से, नियत समय, नियत स्थान पर, स्वेच्छानुसार परिवर्तन न करते हुए अभ्यास करो । इस योग के लिए व्यवस्थित क्रम आवश्यक है । इसका दृढ़ता से पालन करो और इसमें इच्छानुसार परिवर्तन न करो । क्रम को अव्यवस्थित रूप से बदलते रहने का परिणाम बुरा होता है ।

जो अत्यधिक भोजन कर थक गए हैं या जो अत्यल्प भोजन कर अशक्त हो गये हैं; बहुत अधिक या बहुत कम सोने वाले; अपनी सुविधा देखकर ध्यान करने वाले (जो एक दिन बहुत देर तक ध्यान करेंगे, क्योंकि और कोई काम नहीं, दूसरे दिन नाम मात्र को करेंगे क्योंकि उस दिन बहुत काम है), जो अपने छः आंतरिक शत्रुओं (काम, क्रोध इत्यादि) को पूर्ण छूट देते हैं; जो माता-पिता को, विशेष रूप से माता को सुखी नहीं रखते; इनसे भी गये-गुजरे वे लोग, जिनका नाममात्र को भगवान् में विश्वास होता है और ऐसे गुरु में भी कम होता हैं, जिन्हें चुनकर उन्होंने अपने हृदयों में प्रतिष्ठित किया ऐसे सभी लोगों का ध्यान बिल्कुल निष्फल रहता है ।

योग में प्रवीण साधक का मन वायुविहीन झरोखे में स्थित स्थिर, सीधी निश्चल दीपशिखा की तरह होना चाहिए । जब भी अस्थिरता के किंचित मात्र भी चिन्ह दिखने लगें, मन को तुरन्त ही नियन्त्रण में लाने का प्रयत्न करना चाहिए और उसे इधर-उधर भटकने से रोकना चाहिए । तुम सब में हो –ऐसी चेतना जागृत करो; और एकात्मताकी ऐसी भावना बनाओ कि सब तुम में ही हैं । तभी तुम साधक बनकर सब योगों में सफलता प्राप्त कर सकोगे । तब तुम, 'मैं' और 'अन्य', 'आत्मा और परमात्मा' के भेद-भाव से मुक्त हो जाओगे । दूसरों के सुख और दु ख तुम्हें अपने ही सुख और दुःख लगेंगे । ऐसी अवस्था की प्राप्ति होने से फिर किसी को कभी हानि नहीं पहुँचा सकोगे । तुम सब में सर्वेश्वर प्रतीत होने से, तुम्हारे मन में सबके लिए प्रेम और आदरभाव होगा । भगवान् कृष्ण ने घोषित किया कि जिसने ऐसे दिव्यचक्षु प्राप्त कर लिए हैं, वे ही वास्तव में श्रेष्ठतम योगी हैं ।

इसी बीच अर्जुन सदेह में फिर पड़ गया और अपने विश्वास को दृढ़ रखने तथा अधिक स्पष्ट समझने के लिए कहने लगा, 'कृष्ण ! यह सब जो आप बता रहे हैं सुनने में बहुत मधुर है और मैं सोचता हूँ कि इसमें सफल होने वाले के लिए यह आनन्द का स्रोत भी अवश्य होगा । लेकिन यह तो सभी की पहुँच से दूर और कितना कठिन है । ऐसा योग, जिसमें सभी के प्रति समान भाव (समत्वम्) हो, पूर्ण साधक के लिए भी कष्ट साध्य है फिर मुझ जैसे व्यक्तियों के लिए क्या कहूँ जो साधारण मुमुक्षु हैं ? क्या यह हमारे लिए साध्य हो सकता है ? कृष्ण ! क्या मन को इतनी सरलता से वश में किया जा सकता है ? अरे मन व्यक्तियों को जिस प्रकार खींच लेता है, एक हाथी भी नहीं खींच सकता; मन तो स्वच्छन्दता का घर है; इसकी हठधर्मी और नादानी बहुत बलवान है; यह उस छछूंदर के समान है जिसे कभी पकड़ा नहीं जा सकता, न यह एक जगह स्थिर रहता है । मन को पकड़कर वश में करना, हवा को बन्दी बनाना या पानी को गठरी में बाँधने जैसा है । ऐसे मन को लेकर कोई कैसे योग में प्रवेश ले सकता है ? मन को वश में करना और योग-साधना करना, दोनों कार्य एक समान कठिन हैं । कृष्ण तुम ऐसे कठिन कार्य को करने की सलाह दे रहे हो, जो कि किसी के वश की बात नहीं है ।

इन शब्दों को सुनकर भगवान् मुस्कराये और बोले, "अर्जुन ! तुमने मन का वर्णन भी ठीक किया है और उसके लक्षणों को भी तुमने अच्छी प्रकार समझ लिया

है; लेकिन यह कोई असंभव कार्य नहीं है । कठिन होते हुए भी मन को नियमित अभ्यास, सतत विचार और वैराग्य द्वारा वश में किया जा सकता है । ऐसा कोई कार्य नहीं जो नित्य अभ्यास द्वारा संपन्न न किया जा सके । भगवान् में विश्वास रख इस निश्चय से अभ्यास करो कि तुम्हारे साथ भगवान् की शक्ति और अनुग्रह हैं —फिर सब कार्य सरल हो जाते हैं ।

इस प्रकार जो भी इस साधन के लिए दृढ़तापूर्वक प्रवृत्त होता है उसे इस महान् लक्ष्य की प्राप्ति होती है । ऐसी प्राप्ति उन्हीं को होती है जिनकी आत्मायें जन्म-जन्मान्तरों से अच्छे संस्कारों से युक्त होती आ रही हैं । याद रखो, जिसने योग साधना की प्राप्ति की है वह धार्मिक कर्म-कांड के विद्वान से अधिक श्रेष्ठ है । इसलिए, हे अर्जुन ! योगी बनने का प्रयत्न करो, जिससे वही श्रेष्ठ और पवित्र पद तुम्हें प्राप्त हो लेकिन तुम्हें सिर्फ इतना ही नहीं करना है । इससे भी ऊँची एक स्थिति है । जो अपनी पूर्ण चेतना मुझ में प्रतिष्ठित करता है तथा जो निष्ठापूर्वक अनन्य भाव से मेरा ध्यान करता है, वही सबसे श्रेष्ठ है--वही महा योगी है ।

ध्यान-योग और ज्ञान-योग दोनों आंतरिक अनुशासन हैं जिनका आधार श्रद्धा और भक्ति है, जिनके बिना ध्यान और ज्ञान दोनों अप्राप्य है । बिना श्रद्धा और भक्ति के ध्यान और ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न व्यर्थ है क्योंकि श्रद्धा और भक्ति-विहीन साधक एक लकड़ी की गुड़िया की तरह निर्जीव और लक्ष्य-रहित होता है । ध्यान-योग और ज्ञान-योग का मुख्य आधार भगवान् के प्रति आगाध-प्रेम है जिसकी प्राप्ति उनकी महत्ता, तेजस्विता उनके स्वभाव और स्वरूप का ज्ञान होने से होती है । इसलिए मैं तुम्हें इनकी शिक्षा दे रहा हूँ । मैं तुम्हें शास्त्रों का पूर्ण ज्ञान, आन्तरिक अनुभव ज्ञान सहित बता रहा हूँ । इससे अधिक तुम्हे और कुछ जानने की आवश्यकता नहीं है । हजारों आकांक्षियों में से कोई एक व्यक्ति सफल हो पाता है; आरम्भ करने वाले सभी लक्ष्य पर नहीं पहुँच पाते । अर्जुन ध्यान रखो कि पूरे विश्व में मुझ से बढ़कर और कोई नहीं । माला के फूलों की तरह सब मुझमें गुँथे हुए हैं । पंचतत्व, मन, बुद्धि व अहंकार, प्रकृति के इन आठ प्रकारों ने स्थूल, सूक्ष्म, प्रपंच उत्पन्न किया है । इसे अपरा प्रकृति कहते हैं । इससे भिन्न एक और प्रकृति है । उसे परा प्रकृति कहते हैं । यह न तो स्थूल है न सूक्ष्म है; यह जीव के भीतर सर्वदा उपस्थित रहने वाला चैतन्य है । जगत्

इसी का संकल्प है ।

भगवान् ने प्रथम यह स्थूल जगत् बनाया; फिर स्वयं जीवरूप इसमें प्रवेश कर अपने चैतन्य द्वारा उसे चित्त रूप में विभाजित किया । वेदों में यह स्पष्ट रूप से बताया है । तुम्हें अपरा प्रकृति को परमेश्वर का स्वभाव समझना चाहिए और पराप्रकृति को परमात्मा का स्वरूप । स्वभाव और स्वरूप के अर्थ पर विचार करो और उसे अच्छी प्रकार से समझो । चैतन्य सर्वस्वतन्त्र, पूर्ण अधिपति, नित्य मुक्त हैं और स्थूल इसी चैतन्य की आज्ञा में बँधा है ।

जीव का अर्थ है जो प्राण धारण करता है । जीव अपने उपाय और बुद्धि द्वारा प्राण को पकड़े रखता है । वह सर्व-अन्तर्भूत अन्तर्यामी है और सबका पालन कर्त्ता जीवनदाता है । इसलिए पराप्रकृति स्वयं परमात्मा ही है । जो एक ही चैतन्य से प्रकट होती हैं, वे सब एक ही समझे जाने चाहिए ।

संपूर्ण सृष्टि के लिए, जड़ आर चैतन्य दो प्रधान आवश्यकताएँ हैं । प्रकृति और पुरुष भी यही है । चैतन्य शक्ति जब भोग का विचार करती है तब इसके अपने स्वकर्म से सृष्टि व्यक्त होती है । जो जड़ है वह देह स्वरूप धारण करता है । दोनों मेरे ही स्वभाव है । इनके द्वारा उत्पत्ति, स्थिति और लय कराने वाला ईश्वर मैं ही हूँ यह याद रखो । मेरे सिवाय दूसरा और कोई तत्व नहीं है, दूसरा कोई सत्य नहीं है । मैं ही आदिकारण, आदि-तत्व हूँ । "मैं एक हूँ, मुझे अनेक होना है" इस प्रकार मैंने स्वयं इस व्यापकता की 'सृष्टि' कहलाई जाने वाली, रूप और नाम की अनेकता का संकल्प किया । इस संकल्प ने माया शक्ति को प्रभावित और संचालित किया । और इस प्रकार महत्तत्व की उत्पत्ति हुई । प्रकृति के क्रमिक विकास का यह पहला कदम था ।

यदि भूमि में बीज डालकर उसे पानी दिया जाये तो एक या दो दिन में नमी के कारण उसमें आकार-वृद्धि हो जायेगी । अंकुरित होने से पूर्व यह पहला परिवर्तन है । महत् तत्व इसी प्रकार की घटना है । इसके बाद परमात्मा की इच्छानुसार अंकुर प्रस्फुटित होता है जिसे महत् अहंकार कहते हैं । इसमें से सूक्ष्म तत्वों के पाँच भौतिक तत्व रूप पत्ते निकलते हैं । प्रकृतिशक्ति, महत्तत्व, अहंकार और पंचभूत--इन आठ के संयोग का संयुक्त परिणाम यह सम्पूर्ण जगत है ।

बारहवाँ अध्याय

"अ-परा प्रकृति जिसके बारे में मैं कह रहा हूँ वह मेरी ही शक्ति का और मेरी ही महत्ता का प्रत्यक्ष स्वरूप है, इसे याद रखो । बाहरी तौर से व स्थूल दृष्टि से देखने पर 'एक नहीं अनेक' दीखेगा लेकिन यह भ्रम है । यहाँ अनेक बिलकुल नहीं है । अन्तःकरण की उत्कंठा तो एक की ही ओर है । यही सत्य दृष्टि है । और जब अन्तःदृष्टि ज्ञान से संपृक्त हो जाती है तब जगत् या सृष्टि ब्रह्म ही दीखेगा और सिवाय इसके अन्य कुछ भी अनुभव नहीं होगा । इसलिए अन्तःदृष्टि की रुचि को केवल ज्ञान की ओर रखने की शिक्षा देनी चाहिए । जगत् जगदीशमय है । सृष्टि रूप में स्वयं विधाता ही हैं । कहा गया है कि 'ईशावास्यमिदम् सर्व' : यह सब परमात्मा ही है ।

यथार्थ में यह सब एक होकर भी अनेक जैसा दीखता है । कृष्ण के इस कथन पर एक उदाहरण याद आता है । संध्या के गहरे धुँधलेपन में जबकि चीजें धुँधली-सी दीखने लगती हैं- एक गोलमोल रस्सी मार्ग में पड़ी है । प्रत्येक जो इसे देखता है उसकी अलग-अलग कल्पना करता है, जबकि यथार्थ में वह मात्र एक रस्सी का टुकड़ा है । एक इसको माला समझ ऊपर से निकल जाता है । दूसरा इसे बहते पानी की रेखा समझ पैर रखता है, तीसरा इसे वृक्ष से उखाड़ी गई, रास्ते पर पड़ी हुई लता समझता है । कोई इसे सर्प समझ सकता है । ठीक है न ?"

इसी प्रकार एक परब्रह्म बिना किसी रूपान्तर या परिवर्तन के प्रभाव में आये अनेकों नाम व स्वरूप के प्रपंच में प्रकट होता है । माया की धुँधली संध्या में होने वाली प्रतीति का कारण यही है । रस्सी देखने पर अनेकों व्यक्तियों में विभिन्न प्रकार की भावना तथा प्रतिक्रिया उत्पन्न करेगी । वह इस विभिन्नता का आधार हो गई है, किन्तु स्वयं अलग-अलग रूपों में परिवर्तित नहीं होती । वह सर्वदा एक है । रस्सी सदा रस्सी ही रहेगी । वह माला, पानी की रेखा, लता या सर्प नहीं बन जाती । ब्रह्म के अनेकों भ्रामक अर्थ लगाये जायें फिर भी यह सदा एक मात्र ब्रह्म ही रहेगा । इन सब विभिन्न रूपों का ब्रह्म ही एक मात्र वास्तविक आधार है । माला के धागे की तरह व इमारत की नींव की तरह, ब्रह्म ऐसा धागा है जो जीवधारियों को साधे हुए है एवं प्रकृति रूपी निर्माण का आधार है । ध्यान रहे धागा व नींव अदृश्य रहते हैं, केवल फूल और इमारत ही दीखते हैं । इसलिए इसका अर्थ यह

नहीं कि उन दोनों का अस्तित्व ही नहीं है । यथार्थ में वह फूलों और इमारत का आधार है । खैर थोड़ी विचार शक्ति और विवेक द्वारा तुम भी इनके अस्तित्व और महत्ता को समझ लोगे । यदि इतना भी कष्ट नहीं उठाओगे तो यह बात तुम्हारे ध्यान से निकल जायेगी । विचार शक्ति और अन्वेषण द्वारा तुम इस धागे तक पहुँच जाओगे जो माला को सँभाले है और नींव बनकर पृथ्वी में छिपा है । आधेय को देखकर आधार के अस्तित्व को अस्वीकार नहीं करना चाहिए । अस्वीकार करने से तुम सत्य को खोकर भ्रम को ही कसकर पकड़ लेते हो । विचार शक्ति से अच्छे-बुरे की पहचान करके विश्वास और अनुभव प्राप्त करो ।

दृश्य का आधार अदृश्य होता है । अदृश्य को समझने का श्रेष्ठ उपाय अन्वेषण है और श्रेष्ठ प्रमाण अनुभव है । जिनको अनुभव हो चुका है उन्हें वर्णन की आवश्यकता नहीं है । माला के प्रत्यके दाने के स्वभाव व गुण को जानना महत्व नहीं रखता है; इनसे हमारा ध्यान विचलित नहीं होने देना चाहिए । इसके बदले अपने आन्तरिक सत्य अर्थात् दोनों के आधार पर ही ध्यान केन्द्रित करना चाहिए । यही आवश्यक अन्वेषण है । माला में विभिन्न प्रकार के फल क्षुद्र (तामसिक जीव), चटकीले (राजसिक जीव) और सुन्दर व शुद्ध (सात्विक जीव) रहते हैं । लेकिन धागा व आधार, अर्थात् परमात्मा इन सब से स्वतन्त्र रहता है । वह अप्रभावित है व सत्य, नित्य और निर्मल है ।

धागे के बिना फूल जिस प्रकार माला नहीं बन सकते उसी प्रकार ब्रह्म के बिना प्राणियों के मध्य ऐक्य नहीं हो सकता । प्रत्येक वस्तु और तत्व में ब्रह्म समाया हुआ है और इन दोनों को अलग नहीं किया जा सकता है । पंचतत्व इसका ही प्रत्यक्षीकरण है । यही अन्तर्वर्ती प्रेरणा है जिसे बाह्य दृष्टि वाले नहीं देख पाते हैं । दूसरे शब्दों में यही अन्तर्यामी है । इसलिए कृष्ण ने कहा, "मैं जल में रस हूँ, मैं सूर्य व चन्द्र में प्रभा हूँ; मैं वेदों में प्रणव हूँ, आकश में शब्द हूँ; मैं ही मानव में पौरुष (पराक्रम, साहस और प्रेरणा) हूँ ।

अब पूर्व निर्देशित प्रणव के विषय पर ध्यान दो । कृष्ण ने कहा, "प्रणव तो वेदों का जीवन ही है, है न ? वेदों को "अनादि या आरम्भ-रहित माना जाता है" । प्रणव वेदों का प्राण-वायु माना जाता है जो स्वयं सब आरम्भ से परे हैं । इससे जान लो कि प्रणव विश्व के प्रत्येक कण और वस्तु का सूक्ष्मसार और छिपा

स्वरूप है ।

विश्व की प्रत्येक वस्तु के दो हिस्से हैं--नाम और रूप । इन दोनों को हटा देने से प्रपंच या विश्व नहीं रहेगा । रूप नाम से उत्पन्न और नियंत्रित है, रूप नाम पर निर्भर है । कौन अधिक स्थायी है, यह जानने के लिए विवेक-बुद्धि से मालूम करोगे तो नाम नित्य और रूप अनित्य है, यह जान जाओगे । उन लोगों के बारे में सोचो जिन्होंने बहुत से अच्छे कार्य किये, चिकित्सालय और स्कूल, मन्दिर या अन्य देवालय बनाये, अब जबकि उनका रूप संसार में नहीं है फिर भी उनसे सम्बन्धित नाम सब लोगों को याद है । ठीक है न ? रूप तो अस्थायी लेकिन नाम स्थायी रहता है ।

असंख्य नाम हैं और उतने ही रूप हैं लेकिन एक बात का तुम्हें ध्यान रखना है जो सबके लिए, पंडित से लेकर मूर्ख तक के लिए, प्रतिदिन अनुभव में आने वाली है । हिन्दी और तेलुगु में ५२ अक्षर हैं, अंग्रेजी में २६ हैं । यदि तुम हिन्दी या तेलुगु या अंग्रेजी के साहित्य का पूरा पहाड़ चुन दो फिर भी यह सब साहित्यिक रचनाऐं हिन्दी और तेलुगु के ५२ या अंग्रेजी के २६ अक्षरों के ही आधार पर बनी होंगी । इससे एक भी अक्षर अधिक कहीं नहीं मिलेगा ।

इसी तरह मनुष्य के शरीर में ६ नाड़ी केन्द्र होते हैं जिनकी आकृति कमल के फूल की तरह होती है । इनकी प्रत्येक पंखुड़ी से एक शब्द या ध्वनि सम्बन्धित है । हारमोनियम की रीड की तरह जब पंखुड़ियॉ हिलती हैं तब प्रत्येक से एक अलग ध्वनि निकलती है । इस कथन को जो बुद्धिपूर्वक समझने का प्रयत्न करेंगे उन्हें एक संदेह होगा--'यदि पंखुड़ियाँ हिलती हैं तो उन्हें कौन हिलाता है ?' हॉ ! जो शक्ति इन्हें हिलाती है । वह अनहद ध्वनि है, पता भी न चले इतनी सूक्ष्म ध्वनि हैं जो बिना प्रयत्न के सचेत इच्छा की अपेक्षा किए बिना ही उत्पन्न होती है । यही प्रणव है । माला के मनकों की तरह सब शब्द व उनसे निकली ध्वनियाँ प्रणव में गुँथी हुई हैं । भगवान् के कथन--"वह वेदों में प्रणव है" का अर्थ यही है । कृष्ण की शिक्षा है कि तुम्हें अपना मन प्रणव में, जो कि विश्व का आधार है, लीन कर देना चाहिए ।

मन की एक विशिष्ट प्रवृत्ति है कि वह जिसके भी संपर्क में आता है उसी मे तदाकार हो जाता है और उसी के लिए तरसता है, उद्विग्न और व्याकुल रहता

है । लेकिन नित्य अभ्यास, 'संयम' और साधना द्वारा इसे प्रणव की ओर ले जाकर और प्रणव में विलीन होने की शिक्षा उसे दी जा सकती है । ध्वनि की ओर तो वह स्वतः ही आकर्षित होगा । इसलिए इसकी सर्प से तुलना की जाती है । सर्प में दो अवगुण हैं । एक तो टेढ़ी चाल और दूसरी बुरी आदत यह कि सम्पर्क में आने वालों को डंक मारना । यही दोनों स्वभाव मनुष्य में भी हैं । जिस वस्तु पर मन फिसलेगा वह उसी को अधिकृत कर लेना चाहता है । और इसकी भी चाल टेढ़ी है । किन्तु सर्प का एक प्रशंसनीय गुण भी है । कितना भी विषैला और घातक होने पर भी बाजीगर की बीन का संगीत सुनते ही वह फन फैलाकर, संगीत की मधुरता में लीन हो अन्य सभी कुछ भूल जाता है ।

इसी तरह मनुष्य भी अभ्यास द्वारा प्रणव के आनन्द में लीन हो सकता है । परमात्मा, जो "वेदों का प्रणच है, यानि वेदों में जो प्रणव है" उस परमात्मा की प्राप्ति का शब्दोपासना ही मुख्य साधन है । परमात्मा केवल शब्द ही है । इसलिए भगवान् ने कहा है कि वह "वह मनुष्य में पौरुष" है । पौरुष यानि जीव शक्ति, यानि मनुष्य की प्राण शक्ति है । इसके बिना मनुष्य पुरुषार्थहीन है । पूर्व जन्मों की शक्ति की खिचावट कितनी भी प्रबल क्यों न हो, उसे पौरुष से उत्पन्न साहस और सफलता की ताकत के सामने झुकना ही पड़ता है । इस शक्ति को न समझने वाले मूर्ख मनुष्य, भ्रम में पड़कर अपने भाग्य को कोसते हैं, अपने प्रारब्ध को कोसते हें, उससे डरते हैं और समझते हैं कि उनके प्रभाव से वे बच नहीं सकते ।

पौरुष का प्रयोग तो सभी को करना ही चाहिए । इसके बिना जीवन कठिन है । जीवन संघर्ष है, प्रयत्न है, प्राप्ति है । भगवान् ने मनुष्य को इसलिए बनाया है कि वह "पौरुष" द्वारा सफलता प्राप्त करें । उसकी उत्पत्ति इसलिए नहीं हुई कि मनुष्य खाना खाये, पृथ्वी पर भार बने व पशु की तरह इन्द्रियों का दास बन कर रहे । भगवान् का उद्देश्य आवारा, कठिन कार्य से जी चुराने वाले, बढ़ी चरबी के भयानक आकृति वाले झुंड उत्पन्न करना नहीं था । उसने केवल भोगों को भोगने के लिए ही मनुष्य को नहीं बनाया कि वह जिन्दा रहे, भगवान् के अस्तित्व की परवाह न करे, आत्मा को न माने, पशुओं की तरह घूमे, बुद्धि और विवेक को खोकर भटकता फिरे और भगवान् द्वारा दिए गए सब उपहारों का ऐश और आराम के लिए उपयोग कर तनिक भी भगवान् के प्रति कृतज्ञता न दिखाये । प्रकृति भी

उनको सजा देती है जो अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए उसका लाभ उठाते हैं या कहते हैं कि "यह मेरा है, वह भी मेरा है, वह उसका है जो मेरे हैं" । नियम तोड़ने वाले को प्रकृति कड़ी सजा देती है । इसलिए श्रीकृष्ण ने अर्जुन के सामने उपासना या पूजा की विधि को बड़े विस्तार से वर्णन किया है क्योंकि उपासना का अर्थ प्रकृति के उपयोग द्वारा परमात्मा तक पहुँचना है जो कि प्रकृति से परे है ।

अर्जुन ! बहुत से लोग मेरी निर्विघ्न पूजा करने की चिन्ता में घने जंगल में जाकर रहते हैं मानो कि मैं जंगल में ही हूँ । यह पागलपन है । जंगल में मुझे प्राप्त करने की कोई आवश्यकता नहीं है । कोई भी ऐसी जगह नहीं है जहाँ मैं नहीं हूँ । ऐसा कोई रूप नहीं जो मेरा न हो । पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश यह पच तत्व मैं ही हूँ । क्या ऐसी जगह कोई है जहाँ इन पाँचों में से कोई भी न हो ? मेरी उपस्थिति या महत्ता के लिए कोई एक खास जगह नहीं है क्योंकि मैं सभी कुछ, सर्वव्यापी, और नित्य हूँ । मैं बलवानों का बल हूँ । लालच व काम से मुक्त मनुष्यों में मैं धर्मवृत्ति व धार्मिक कार्यों की प्रेरणा हूँ ।

निःसंदेह 'बल' से मेरा कहने का अर्थ बुद्धि बल है क्योंकि संसार में कई प्रकार के बल हैं; धनबल जो धन से उत्पन्न होता है; विद्या बल जो विद्वत्ता से प्राप्त होता है, जल-बल जिसकी चेतना अनेकों अनुयायियों के होने से उत्पन्न होती है । मनोबल अपने निश्चय से प्राप्त होता है; देह बल जो मात्र स्नायुबल है, इत्यादि । यह सब मेरे ही मानने चाहिए क्योंकि मैं परमेश्वर हूँ! सब प्रकार के बल को काम और राग से मुक्त होना चाहिए । काम व राग व जुड़ने से शक्ति पाशविक होती है, दैविक नहीं । यह पशुबल होगा--पशुपति बल नहीं ।

काम का अर्थ है किसी वस्तु को पाने की इच्छा और वह इतनी तीव्र होती है कि उसकी प्राप्ति की किंचित मात्र सम्भावना न होने पर भी, मन उसके पीछे दौड़ता है । वस्तु को अपने अधिकार में करने की उत्कंठा--यह जानते हुए भी कि यह अधिक व शीघ्र लुप्त होने वाला है, राग कहते हैं । रंजन राग का मूल शब्द है । रजन का अर्थ है आनन्द देने की योग्यता । किसी प्रकार का भी बल जो इन दोनों में से किसी भी एक कारण से भ्रष्ट हो जाये तो उसे दिव्यता का गौरव नहीं दिया जा सकता है ।

कुछ बलों की उन्नति और प्रतिष्ठा उसके अधिकारी पर ही निर्भर करते हैं ।

उदाहरण के लिए धन । यदि किसी दुष्ट को धन मिले तो वह अहंकारी, घमंडी, क्रूर व दूसरों का अपमान करने वाला हो जायेगा । यदि किसी अच्छे मनुष्य को धन मिलता है तो वह दान व अच्छे काम करने वाला हो जायेगा । दुष्ट लोग शारीरिक बल का उपयोग, दूसरों को हानि पहुँचाने के लिए करते हैं जबकि अच्छे लोग शारीरिक बल का उपयोग दूसरों की रक्षा करने के लिए करते हैं ।

एक बात पर यहाँ ध्यान देना हैं । कृष्ण ने कहा कि क्रोध व लोभ जो धर्म के प्रतिकूल नहीं होते वे भी दैविक अभिव्यक्ति के स्वरूप हैं । संक्षेप में सब भावनायें, सब वस्तुयें, उसी एक दैविक अस्तित्व के परा व अ-परा स्वभाव से उत्पन्न हुई हैं, लेकिन श्रेष्ठ अनुभव और भावनायें पाने के लिए मनुष्य को मेरा स्वरूप श्रेष्ठ भावनाओं, उच्चतर आकृतियों और श्रेष्ठ लोगों में देखने का स्वभाव बना लेना चाहिए । फिर भी ऐसे विचार ठीक नहीं कि श्रेष्ठ ही दिव्य हैं और जो क्षुद्र हैं वह दिव्य नहीं हैं । बाह्य जगत् अपनी सात्विक, राजसिक, तामसिक वस्तुओं व प्रतिक्रियाओं और प्रवृत्तियों सहित भगवान् से ही उद्भूत है । यह विश्वास तुममें पनप कर तभी दृढ़ हो सकेगा जब बुद्धि द्वारा तुम इसके सत्य को स्वीकार कर आत्मसात कर लोगे ।

भगवान् ने स्वयं प्रकट किया कि "यह सब मुझसे उत्पन्न हुए हैं और यह सब मुझमें ही निहित हैं, लेकिन मैं इन सब पर निर्भर नहीं हूँ । मेरी इन सब में कोई आसक्ति नहीं है" । यहाँ दो प्रकार के दृष्टिकोण हैं । जीव का दृष्टिकोण और भगवान् का दृष्टिकोण । जीव को अच्छे व बुरे दो प्रकार के अनुभव होते हैं जबकि परमात्मा के ऐसे दो प्रकार नहीं हैं । जब सभी ब्रह्म है तथा वही सब की अन्तरात्मा है तब एक अच्छा व दूसरा बुरा कैसे हो सकता है ?

अब इस बात पर साधारण लोगों को एक सन्देह हो सकता है । भगवान् कहते हैं सब चीजें अच्छी या बुरी उन्हीं से सम्पन्न हुई हैं और वे ही उनका आदि कारण हैं । लेकिन साथ-साथ यह भी सूचित करते हैं कि इस प्रकार उनसे उत्पन्न वस्तुओं के प्रभाव या कुप्रभाव से वे निर्लिप्त हैं; उनसे न तो वे बँधे हैं, न प्रभावित होते हैं । वे कहते हैं कि उनका इनसे कोई भी सम्बन्ध नहीं और इस उत्पत्ति का कारण होते हुए भी वे उन सबसे परे हैं ।

इससे तुम इस निष्कर्ष पर आ सकते हो कि मनुष्य के द्वारा भगवान् जो भी

अच्छा या बुरा करते हैं, उसके लिए जीव उत्तरदायी नहीं है, और मनुष्य का असली स्वभाव भी अच्छे और बुरे से परे है तथा उसके कार्य कितने भी बुरे हों वे मूलतया स्वयं भगवान् द्वारा ही प्रेरित हैं क्योंकि मनुष्य किसी भी कार्य को स्वयं करने का दावा नहीं कर सकता । यह सत्य श्रद्धा है, लेकिन इस प्रकार का विश्वास कि –"तुमने कुछ नहीं किया" और "यह सब भगवान् की इच्छा है जो तुमसे कार्य करवाती है"–दृढ़, सच्चा, गहरा और निश्चल होना चाहिए । उसमें अहंकार की लेशमात्र भी शंका नहीं होनी चाहिए ? ऐसा होने से व्यक्ति जीवन के श्रेष्ठ लक्ष्य पर पहुँच गया समझो । उसने पूर्ण अनुग्रह प्राप्त कर लिया है । इस सत्य को समझना चाहिए । इस ज्ञान को सिर रखना है । वास्तव में जिसे यह विश्वास है कि यह सब परमात्मा है; बाह्य संसार में उसे किसी प्रकार की आसक्ति नहीं है और वह उससे परे है, वह सत्य जीवी है तथा उसी का जन्म सफल है ।

फिर भी शब्द व्यर्थ हो सकते हैं । तोते की तरह, खूब रटे हुए, कुछ तैयार वाक्य तुम बार-बार कह जाते हो, जैसे कि "सब भगवान् का है, मैं तो कठपुतली मात्र हूँ । भगवान् डोरी खींचते हैं, मैं उनकी इच्छानुसार नाचता हूँ, मेरा कुछ नहीं है, मैं तो भगवान् की इच्छा का पालन करता हूँ" । लेकिन अक्सर तुम क्या करते हो ? प्रशंसनीय कार्य को अपना किया हुआ कहते हो और निन्दनीय कार्य को तुम भगवान् की प्रेरणा से हुआ कहते हो । गला सूख जाने तक मंच पर से चिल्लाते रहते हो कि सम्मान, यश, ऊँची सामाजिक स्थिति व रहन-सहन, सत्ता व पदवी, सम्पत्ति और अधिकार, गुण व लाभ तुमने अपने ही प्रयत्नों द्वारा जीते हैं । लेकिन अपने हिस्से की बदनामी, हार दुष्टता व हानिकारक कार्यों को अंगीकार करते समय तुम उसका दायित्व भगवान् पर डालकर कहते हो, "मैं तो भगवान के हाथ का एक साधन हूँ; वे मेरे स्वामी है, मैं तो साधन मात्र हूँ" । आज मनुष्य की यह आदत हो गई है । घड़ी के ढोलक की तरह लोग "मैं" से "वह" पर झूलते हैं । यह धोखा मात्र है, आध्यात्मिक-शून्यता और ढोंग है ।

मन, शब्द व कर्म, ये तीनों ही इस भावना और विश्वास से भरे जाने चाहिए कि यह सब भगवान की ही लीला है । यही सच्चा मार्ग है । मनुष्य की मानसिक दुर्बलता ही वस्तु को अच्छा या बुरा कहकर विभाजन करती है । इसका दोष भगवान को लगाना अपने को अपवित्र करना है । कभी-कभी भगवान के लिए

भी ऐसी अश्रद्धा दीखेगी लेकिन वह क्षण भर के लिए ही, केवल, भगवान के तेज को छिपाने वाले बादल की तरह । ऐसा नहीं जो उन्हें कलंकित कर सके । क्योंकि गुण भगवान से उत्पन्न होकर भी उन पर असर नहीं कर सकते हैं । धुंआ अग्नि से निकलता है लेकिन अग्नि पर उसका असर नहीं होता । आसमान में बादल आते हैं, जाते हैं लेकिन आसमान पर उनका प्रभाव नहीं होता । माला के दानों की तरह सब परमात्मा से अनुस्यूत हैं लेकिन वह निरन्तर, नित्य, स्वतन्त्र व लगाव रहित हैं । विश्व का वह आधार है लेकिन उनको विश्व के आधार की आवश्यकता नहीं है ।

कपड़े का उदाहरण लो । कपड़े का आधार सूत्र है । वह सूत्र पर निर्भर है, लेकिन सूत्र कपड़े पर निर्भर नहीं । कपड़े से उसका लगाव या वह कपड़े के प्रभाव में नहीं है । घड़े को मिट्टी का सहारा है लेकिन मिट्टी स्वतन्त्र है । फिर भी कपड़ा सूत्र है, घड़ा मिट्टी है । मिट्टी ब्रह्म है, घड़ा प्रकृति है । सूत्र ब्रह्म है, कपड़ा प्रकृति है । आकार या स्वरूप और नाम पर ध्यान न दो । कपड़े का जो आधार है उस पर ध्यान दो तब तुम जानोगे कि वह केवल सूत्र ही है । बिना मिट्टी के घड़ा नहीं बन सकता, सूत्र विहीन कपड़ा नहीं हो सकता । इसी तरह बिना ब्रह्म के प्रकृति नहीं हो सकती ! 'सब ब्रह्म है' ऐसा कहने से तो "ब्रह्म सब में हैं" अधिक सत्य है । यह समझने की अपेक्षा कि वह सर्वभूत अन्तरात्मा सबका आंतरिक सत्य है, (ब्रह्म को सर्व-आधार सबका आधार रूप ही समझना श्रेष्ठ है । सत्य यही है ।)

तेरहवाँ अध्याय

विश्व स्वयं एक ऊपरी निर्माण है, जिसका आधार परमात्मा है । एक दिखावट है, दूसरा सत्य है । लोग आधार को स्वीकार न कर 'आधेय' की कामना करते हैं और इतना भी नहीं पूछते कि 'आधार' के बिना आधेय कैसे ठहर सकता

है ? दृष्टिदोष का यह भी एक उदाहरण है । इसको ठीक करने से ही सृष्टि को बनाने वाला दीख सकेगा और इस दृष्टिदोष के पूर्णतया हटने पर ही सृष्टि-कर्त्ता को पहचाना जा सकेगा ।

अर्जुन ने कृष्ण से पहले भी इस विषय के बारे में पूछा था । उसने अब प्रश्न किया, "हे कृष्ण ! दृष्टिदोष वास्तव में क्या है ? मुझे भी सविस्तार समझाइये" वह इस दोष की उत्पत्ति और वृद्धि का कारण भी जानना चाहता था । अर्जुन सबकी हॉं में हाँ मिलाने वाला एक साधारण व्यक्ति नहीं था । मन में संदेह उठने पर वह वाक्य के बीच में ही कृष्ण से प्रश्न पूछने का साहस रखता था । उसमें आवश्यक साहस और दृढ़ता थी ।

जब तक कृष्ण से उसे अनुभव द्वारा प्रमाणित और शास्त्रोक्त ज्ञान से परिपूर्ण उत्तर नहीं मिलता था वह पूछने का आग्रह नहीं छोड़ता था । भगवान् भी इसीलिए मुस्कराते हुए तुरन्त उत्तर देते थे ।

इस दृष्टिदोष के प्रश्न का उत्तर कृष्ण के पास यह था : उन्होंने कहा, "सुनो अर्जुन ! मेरे और विश्व के बीच में माया है, जिसे भ्रम भी कहते हैं । किन्तु माया भी मुझसे भिन्न नहीं, वह भी मेरे तत्व की है, मेरी ही है । इसलिए इसके भी परे देखना मनुष्य के लिए कठिन काम है । इसे मैंने ही बनाया है और यह मेरे आधीन है । अत्यन्त शक्तिशाली को भी यह क्षणभर में उलट-पलट देती है । तुम आश्चर्य करोगे कि इसको पराजित करना इतना कठिन क्यों है ? निःसन्देह यह कार्य सरल नहीं है । जिनकी मुझमें आसक्ति है वे ही मेरी माया को जीत सकते हैं । अर्जुन, तुम मेरी माया को कहीं से आई हुई कुरूप सी वस्तु मत समझना । माया तो मन का गुण है, उसका स्वभाव है । यही तुम्हें सत्य और अनन्त परमात्मा की ओर से लापरवाह बनाकर स्वगुणकृत नाम और रूप की अनेक जटिलताओं को मूल्यवान मनवाती है । स्वयं को (देही के बदले देह को) शरीर समझने की भूल करवाती है । माया कोई ऐसी वस्तु नहीं जो पहले थी, और फिर लुप्त हो जायेगी; और न ऐसा ही है कि वह पहले न थी, बाद में आई और अब है । वह न तो कभी थी, न अभी है, न आगे होगी ।

माया ऐसे अद्भुत पदार्थ का नाम है जिसका अस्तित्व ही नहीं है । लेकिन यह अस्तित्व-रहित वस्तु दृष्टिगोचर होती है । यह एक रेगिस्तान के मृगजल की

तरह है जो न तो कभी था और न है । जो रेगिस्तान के गुण से अनभिज्ञ हैं वे ही इसकी ओर आकर्षित होंगे, लेकिन जो इस सत्य को जानते हैं, इससे भ्रमित नहीं होते । अज्ञानी इस ओर भागते हैं और बदले में शोक, थकान और कष्ट ही पाते हैं । जिस प्रकार कमरे का अंधेरा कमरे को, पानी के ऊपर फैली काई पानी को, आँख का मोतियाबिन्द आँख की ज्योति को छिपा लेता है, उसी प्रकार माया भी उसी को प्रभावित करती है जो इसकी वृद्धि में सहायक होता है । तीनों गुण और तीनों देवताओं को भी यह पराभूत कर देती है; अर्थात् वे सब जो अपने को नाम, स्वरूप और वैयक्तिकता में एकरूप व सीमित रखते हैं, माया से प्रभावित होते हैं । जीवभ्रान्ति (जीव से एकरूपता) के कारण ऐसा होता है । तत्वभ्रान्ति (तत्व से एकरूपता) इसे संचालित करती है । तत्व को यह छिपा देती है किन्तु तत्व को जिन्होंने समझ लिया है उनको यह प्रभावित नहीं कर सकती ।

अर्जुन तुम मुझसे पूछोगे कि जिस प्रकार माया जहाँ पैदा होती है वहीं फैलकर उसे हानि पहुँचाती है उसी प्रकार क्या मैं भी जिसने उसमें जन्म लिया है मलिन न हो गया हूँ? ऐसा संदेह स्वाभाविक होते हुए भी निराधार है । माया इस पूरे जगत् का कारण है लेकिन परमात्मा का कारण नहीं है । माया मेरे आधीन है । यह जगत् जो माया से उत्पन्न है मेरी इच्छानुसार कार्य करता व संचालित होता है । इसलिए जो मुझमें अनुरक्त हैं और मेरी इच्छानुसार कार्य करते हैं उन्हें माया हानि नहीं पहुचा सकती । माया उनके आधिपत्य को भी स्वीकार करती है । माया को पराजित करने का एकमात्र उपाय विश्वव्यापक के ज्ञान की प्राप्ति और स्वय की विश्वव्यापकता को फिर से खोज निकालना है । जो अनन्त है, उसे तुम जीवन की सीमा में बाँधते हो, इसी कारण माया उत्पन्न होती है । भूख और प्यास जीवन का गुण है । आनन्द, शोक, प्रवृत्ति, कल्पना, जन्म और मरण शरीर के गुण हैं । यह सब अनात्मा है ।

तुम स्वयं विश्वव्यापी हो फिर भी अपने को इन सब अनात्मिक गुणों से सीमित व इनके आधीन समझते हो । ऐसे विश्वास का होना ही माया है । लेकिन याद रखो जिसने मुझमें शरण ली है माया उसके पास पहुँचने की हिम्मत भी नहीं कर सकती । जिनके ध्यान में माया है, उनके लिए वह एक बाधा रूप ही है । लेकिन जो परमात्मा में ध्यान लगाते हैं उनके लिए माया भी माधव बन जाती है । माया

की बाधा दूर करने के लिये या तो अनन्त परमात्मा से एकात्मकता बढ़ानी चाहिए या भगवान् में पूर्ण शरणागति की अवस्था प्राप्त करनी चाहिए । प्रथम ज्ञान योग कहलाता है; दूसरा भक्ति योग है ।

भगवान् में पूर्ण समर्पण द्वारा माया को जीतने की आन्तरिक प्रेरणा सभी मनुष्यों को प्राप्त नहीं होती । यह जन्म-जन्मांतरों के अच्छे या बुरे कर्म संचय पर निर्भर रहता है । जिनके पूर्व संचित कर्म बुरे हैं वे केवल क्षणिक इन्द्रिय सुखों का पीछा करेंगे । पशु-पक्षियों की तरह खाना-पीना और मौज-मजा को ही जीवन का लक्ष्य बनायेंगे । परमात्मा का कोई विचार ही उन्हें नहीं आयेगा । वे धर्मात्मा सज्जनों की संगति को नापसन्द कर सत्य कार्यों से दूर हट जाते हैं; इस प्रकार परमात्मा के राज्य की रक्षा से वे वंचित हो जाते हैं ।

दूसरी ओर जिनके पूर्व संचित कर्म अच्छे हैं वे अपने गुणों को बढ़ाते हैं, विचारों को उन्नत करते हैं, भगवान् का सामीप्य चाहकर उसकी प्राप्ति चाहते हैं । ऐसे मुमुक्षु साधक भगवान् की ओर कष्ट या ज्ञान-पिपासा के कारण आकर्षित होते हैं । सहायता के लिए भगवान् की ओर मुड़ने से यह स्पष्ट होता है कि वे जन्मजन्मान्तरों से उन्नत पथ पर अग्रसर हैं ।

केवल लाभ पाने की इच्छा से किए गये कर्म अर्थात् सकाम-कर्मों का गीता अनुमोदन नहीं करती । निष्काम-कर्म, लाभ-प्राप्ति की इच्छा के बिना किए गये कर्म ही तुम्हें भ्रम से छुड़ायेंगे ।

अब, आर्त-भक्त के बारे में जो भगवान् की ओर अपने कष्ट दूर करने के लिए प्रेरित होता है, एक सन्देह उठ सकता है । प्रश्न उठेगा कि क्यों ऐसे व्यक्ति को भक्त कहा जा सकता है ? संसार में ऐसा कोई नहीं जिसे कोई भी इच्छा न हो । अपनी इच्छा पूर्ति के लिए प्रत्येक दूसरे पर निर्भर होता है, ठीक है । वस्तुओं से सम्बन्धित इच्छाओं का होना ही भूल है, है न ? और फिर अपने ही जैसे एक मनुष्य पर अपनी इच्छापूर्ति के लिए निर्भर होना उससे भी बढ़कर भूल है । आर्त-भक्त को भगवान् में ही विश्वास और आदर भाव है इसीलिए वह उन्हीं की ओर प्रेरित होता है मनुष्य की ओर नहीं । आग्रह-पूर्वक उनसे ही जो चाहता है माँगता है । इच्छाओं का पोषण भूल है, फिर भी निम्न साधनों पर अपनी इच्छापूर्ति के लिए निर्भर होने की महत् भूल से वह बचता है । इसलिए वह ऊँचा है न ? इस उच्चता

को तुम तब समझोगे जब यह जान लोगे कि तुम्हारी इच्छा का इतना महत्व नहीं है जितना कि इच्छापूर्ति के लिए अपनाये गये साधन का । लक्ष्य परमात्मा है; वही देने वाला है, केवल उसकी कृपा ही इच्छा पूर्ण कर सकती है; जब ऐसा विश्वास दृढ़ हो जायेगा तब तब तुम आर्त-भक्त की योग्यता को यथार्थ में मान लोगे । गीता में उल्लिखित प्रथम तीन प्रकार के भक्त आर्त, अर्थार्थी और जिज्ञासु भगवान् के परोक्ष रूप के दृढ़ उपासक हैं । अपनी इच्छापूर्ति या लक्ष्य प्राप्ति के लिए वे भगवान् को खोजते हैं और निःसंदेह हमेशा भगवान् की आराधना एवं स्मरण करते रहते हैं ।

चौथे प्रकार के भक्त ज्ञानी 'अनन्य भक्त' है और अन्य सब में अनेक-भक्ति होती है, ऐसा गीता में कहा गया है । जो अनेक भक्ति की श्रेणी में हैं उनकी आसक्ति वस्तुओं और इच्छित अवस्थाओं में होने के कारण भगवान् में भी अनुरक्ति होती है । वे केवल भगवान् में ही नहीं बाह्य संसार में भी आसक्त होते हैं । किन्तु ज्ञानी अपनी दृष्टि भगवान् के सिवाय अन्य किसी की ओर उठायेगा भी तो जहाँ देखेगा भगवान् ही दीख पड़ेंगे । इसीलिए भगवान् ने प्रकट किया कि ज्ञानी उन्हें सबसे अधिक प्रिय है । वैसे तो भगवान् की दृष्टि में सब बराबर ही हैं, फिर भी जो उन तक पहुँचते हैं और वहीं स्थिर है, उन्हें भगवान् के प्रेम का स्पष्ट, तुरन्त प्रत्यक्ष ज्ञान व अनुभव प्राप्त होता है । इससे अनुमान होगा कि ज्ञानी भगवान् के इतने समीप और इतना अधिक प्रिय क्यों है ।

सर्दी से काँपने पर तुम्हें गर्मी देना अग्नि का गुण है । लेकिन यदि तुम उससे दूर रहो तो वह तुम्हें गर्मी कैसे दे सकती है ? इसी प्रकार सांसारिकता के रोग को हटाने के आकांक्षी को ज्ञान की अग्नि का सहारा, जो भगवान् के अनुग्रह और सन्निद्धि से प्राप्त होता है, लेना ही होगा ।

कभी-कभी साधना करते समय साधक भगवान् की वास्तविक महत्ता को उनसे कम आँकने लगता है । उसे लगता है भगवान् पापी व संत, अच्छे व बुरे, ज्ञानी और अज्ञानी में भेदभाव करते हैं । यह गलत अनुमान है । भगवान् मनुष्यों में भेदभाव नहीं करते । यदि वे ऐसा करें तो पृथ्वी पर कोई भी पापी एक क्षण भी उनके क्रोध के सामने न जी सकेगा । भगवान् द्वारा ऐसा भेदभाव न रखने के कारण ही पृथ्वी पर सब जीवित हैं । इस सत्य को केवल ज्ञानी ही समझते हैं । अन्य लोग

इसे न समझ भगवान् को अपने से दूर, बहुत दूर समझते हैं, और फिर इसी सोच से दुःखी होते हैं ।

ज्ञानी माया से मुक्त हैं, वह रजस्, तमस् और सत्व गुणों से भी अप्रभावित रहता है । ज्ञान का आकांक्षी इससे भिन्न है । वह भगवान् के निरंतर ध्यान, पवित्र विचार और पवित्र कार्य में ही अपना समय बिताता है । अन्य दोनों --अर्थार्थी और आर्त ऊँचे अनुभव प्राप्त कर सत्य और असत्य पर बारंबार विचार कर जिज्ञासु बन जाते हैं । बाद में पूर्ण ज्ञानी हो वे अपनी रक्षा कर लेते हैं । इस प्रकार क्रमानुसार उन्हें लक्ष्य की प्राप्ति होती है । एक ही झटके में तुम्हें पूर्ण लक्ष्य प्राप्ति नहीं हो सकती ।

एक उदाहरण द्वारा यह और अधिक स्पष्ट हो जायेगा । ज्ञानी को एक सीधी रेल प्राप्त हो जाती है अर्थात् लक्ष्य पर पहुँचने के लिए उसे रेल बदलनी नहीं पड़ती । जिज्ञासु सीधे डिब्बे में पहुँच चुका है । उसे भी एक रेल से दूसरी बदलने की आवश्यकता नहीं है । आगे कहीं उसका डिब्बा अलग करके उसके लक्ष्य की ओर जाने वाली रेल से जोड़ दिया जायेगा और अन्त में वह अपने निर्दिष्ट स्थान पर पहुँच जाता है । आर्त साधारण रेल में बैठता है । उसकी रेल न तो सीधी जाती है और न सीधा जाने वाला डिब्बा रेल में जुड़ा है । इसलिए उसे अनेक जगह रास्ते में उतरना पड़ता है और दूसरी रेल न आने तक रुकना भी होता है । इस प्रकार अपने लक्ष्य पर पहुँचने के लिए उसे जगह-जगह रुकना पड़ता है । यह एक लम्बी और उलझनों से भरी यात्रा है । लेकिन कठिनाई के बावजूद भी आर्त यदि अपना ध्येय न छोड़े तो उसे सफलता मिल सकती है । लक्ष्य प्राप्ति तो सबको होती है केवल विधि और गति पृथक रहते हैं । इसमें कोई संशय नहीं कि भगवान् ने अनेकों बार इन चारों प्रकार के भक्तों को 'मेरे अपने' कहा है । उन्होंने ऐसा क्यों कहा ? इसलिए कि उन सबका एक ही उच्च लक्ष्य है ।

इसलिए सर्वदा विश्वव्यापक और असीम की आकांक्षा रखो अपनी इच्छाओं को क्षुद्र और सीमित न रखो । "कंजूस ही छोटी-छोटी चीजों की इच्छा रखते हैं और दयालु और विशाल हृदय ही परमात्मा के आकांक्षी होते हैं" कृष्ण ने बताया ।

ज्ञानी की भक्ति सहज भक्ति है । दूसरों की भक्ति को गौण भक्ति कहा जा

सकता है । ज्ञानी परमात्मा को अपनी ही आत्मा अनुभव करता है । भक्ति परमात्मा में आसक्ति या अनुरक्ति को कहते हैं । इसे 'पूज्येश्वरानुराग' भक्ति कहते हैं । पूज्य में अनुरक्ति भक्ति है ऐसा कृष्ण बोले । अनेकों जन्मों के पूर्व सचित अच्छे कर्मों के परिणाम-स्वरूप ज्ञानी ऐसा हो जाता है । यह क्षणभर में प्राप्त होने वाली स्थिति नहीं है और न यह दुकानों में बिकने वाला तैयार माल ही है । यह तो जन्म-जन्मान्तरों के आध्यात्मिक प्रयत्नों की ऊँची कमाई है । लोगों की देखभाल के लिए अच्छे डॉक्टरों का होना आवश्यक है । कई वर्षों के अध्ययन व अनुभव से डॉक्टर बनते हैं । यदि पूर्णता न प्राप्त, अयोग्य डॉक्टरों की अस्पतालों में नियुक्ति की जाये और वे बीमारों को नुस्खा दें एवं उनका चीरफाड़ से इलाज भी करने लगें तो ठीक करने के बदले वे बीमार को मार ही डालेंगे । इसी प्रकार यदि कोई आज ज्ञानी बन गया है तो तुम कल्पना कर सकते हो कि इस श्रेष्ठता के लिए उसे अनेकों वर्ष कितनी साधना करनी पड़ी होगी । उसके इस प्रयत्न में पूर्वजन्मों की मानसिक प्रवृत्तियाँ भी सहायक होती है ।

आजकल अनेक प्रकार के लोग अपने को ज्ञानी कहते हैं । वे शायद यह नहीं समझते कि ज्ञानी अपने विशिष्ट गुणों द्वारा ही जाना जाता है । सच्चे ज्ञानी की पहचान स्वानुभव पर आधारित उसकी यह घोषणा है, "वासुदेव सर्वम् इदम्" यह सब वासुदेव ही हैं, इस अनुभव में दृढ़तापूर्वक एकीभूत होना ही सच्चे ज्ञानी का लक्षण है । वासुदेव का अर्थ यहाँ वसुदेव का पुत्र नहीं है बल्कि वह परमात्मा है जिसने सब जीवों को अपना घर, अपना निवास स्थान बनाया है । प्राणिमात्र में परमात्मा को देखने वाला व्यक्ति ही ज्ञानी कहलाने योग्य है । अन्य सब नाम-मात्र के ज्ञानी हैं जिन्हें ज्ञान का सच्चा अनुभव नहीं है । यथार्थ में ज्ञान क्या है ? ऐसे ज्ञान की प्राप्ति जिसके द्वारा सबका ज्ञान हो जाता है और जिससे अन्य सब के बारे में जानने की आवश्यकता मिट जाती है ।

ज्ञानी इसी उच्चस्थिति को प्राप्त करता है । थोड़े श्लोक रटने से, या कुछ पुस्तकों के पन्ने पलटने, या दस-बीस लोगों के साथ मंच पर घंटों विद्वत्ता के घमड में ओत-प्रोत होकर भाषण देने या जादूगर की डोर में लगी गेंद की तरह उन्हें निगलकर वापस उगल देने एवं क्लिष्ट वाक्यों की बौछार करने से ही कोई ज्ञानी नहीं माना जा सकता । ऐसे बनावटी ज्ञानियों का हमारे यहाँ विशाल समुदाय

है । उनका वस्त्र भगवा होता है, लेकिन हृदय मनुष्य-भक्षी राक्षस का होता है । खैर, सब पत्थर जवाहरों की तरह कैसे चमक सकते हैं । सभी पत्थर रत्न नहीं होते । एक पत्थर का हीरे जितना मूल्य कौन देगा ? केवल मूर्ख ही इस प्रकार का धोखा खायेंगे क्योंकि उन्हें न तो पत्थर की परख होती है, न हीरे की ।

ऐसे बनावटी ज्ञानियों को निष्फल करने के उद्देश्य से श्रीकृष्ण ने गीता में मंत्रों के राजा, "वासुदेव सर्वम्" की घोषणा की । मनुष्य-मात्र की रक्षा के लिए अकेला यह मंत्र पर्याप्त है । यही भगवान् का अप्रत्यक्ष उपहार है--ऐसा मानकर इस पर और इसके अर्थ पर ध्यान दो । मनुष्य के लिए यही श्रेष्ठ लाभ और श्रेष्ठ लक्ष्य है । केवल ये छः अक्षर मनुष्य जीवन को उत्तम बनाने के लिए पर्याप्त हैं । सर्वदा ऐसे आन्तरिक अनुभव की उपस्थिति के बिना ही अनेकों अपने को महात्मा, जगद्गुरु, भगवान्, परमहस, ज्ञानी, त्यागी, इत्यादि कहलवाते हैं और दुःख यह है कि लोग इन्हें बनावटी होते हुए भी सच्चे मानते हैं । ऐसी उपाधियाँ इन्हें किसी ने प्रदान नहीं की । इन उपाधियों को तो इनके वर्तमान स्वामियों ने अपने पसन्द से चुना और लोगों का अपनी ओर ध्यान आकर्षण करने वाली कलगी की तरह धारण किया । असली न होने के कारण उनकी चमक भी शीघ्र लुप्त हो जाती है; उनके बाहर संन्यास है और अन्दर अत्यास (अति आस-अधिक इच्छा) है । बाहर योग है लेकिन अन्दर रोग है । उनके नामों में आनन्द जुड़ा है लेकिन भटकते हैं वे गलियों में । उनके शब्दों में मिठास है लेकिन उनके कार्य मूर्खतापूर्ण व विदूषकों जैसे होते हैं । जो गृहस्थ व्यक्ति अपने नित्य कर्त्तव्यों का पालन करने में लीन हैं वे आध्यात्मिक दृष्टि से इन बनावटी त्याग और योग के नमूनों से कहीं अधिक अच्छे हैं ।

भारत की सभ्यता व इसकी प्राचीन नैतिकता और सत्य के क्षीण होने का मुख्य कारण इन धोखेबाज लोगों द्वारा किए गए बुरे कार्य हैं । भगवान् में विश्वास कम होने का कारण भी यही है । वे दूसरों को त्याग का उपदेश देते है लेकिन स्वयं भोग चाहते हैं । सदाचार की वे प्रशंसा करते हैं लेकिन उनके व्यवहार में दूसरों के लिए तिरस्कार भरा है । संन्यास की जड़ इनके ऐसे आचरणों से सदा के लिए कट जाती है । जहाँ शब्द और कार्य का समन्वय नहीं वहाँ सत्य का लेश मात्र अंश भी नहीं होता ।

गृहस्थ तो न्यूनाधिक मात्रा में दृढ़ होकर सत्य का पालन करते भी हैं । इनमें अनेकों घृणा-रहित और शुद्ध हृदय के हैं जो सदाचार और नीति के मार्ग पर चलते हैं लेकिन त्यागी और योगी बनकर प्रदर्शित करने वालों में हर प्रकार की घृणा और इच्छा स्पष्ट प्रकाशित होती है । औरों को गिराने के लिए बनाये गये गड्ढों में वे खुद ही गिर जाते हैं । अहंकार, ईर्ष्या और प्रदर्शन साधक के सब प्रयत्न निष्फल कर देते हैं । इसलिए साधक और भक्त को सर्वदा सावधान रहना चाहिए; इन अवांछनीय प्रवृत्तियों से अपने को दूर रख भगवान् की महत्ता पर अपना ध्यान लगाना चाहिए । नैतिक आचरण द्वारा उत्साह से सच्चे आत्मानन्द की अनुभूति प्राप्त कर अपने परम आनन्द में पूरे संसार को सहभागी बनाना होगा । इससे विश्व शान्ति और विश्व-समृद्धि का अभ्युदय होगा ।

कृष्ण ऐसे ही सच्चे ज्ञानियों की ओर संकेत करके कह रहे थे कि पूरा विश्व ऐसे ज्ञानियों की तेजस्विता से आलोकित होगा । वास्तव में ज्ञान-विहीन मनुष्य, अंधेरे घर की तरह होता है ।

चौदहवाँ अध्याय

"नहि ज्ञानेन् सदृशम्" ज्ञान के समान कुछ नहीं है । यह ज्ञान क्या है ? जो तुम्हें आवागमन के इस संसार सागर से पार करा देता है वही ज्ञान है । यह दो प्रकार का होता है --वस्तुपरक (विषय ज्ञान) एवं समग्र (अ-भेद ज्ञान) ।

प्रथम संसार विषयक ज्ञान है तथा दूसरा अभेद-ज्ञान ब्रह्म और जीवात्मा की एकात्मता का ज्ञान है । यह बुद्धि की क्रिया नहीं है बल्कि इससे भी परे है; यह बुद्धि की क्रिया का साक्षी है । मनुष्य द्वारा सत्य समझे जाने वाले संसार के आगमन का भ्रम और हृदय का भय ज्ञान ही नष्ट करता है । यह संसार और स्वयं मनुष्य सब ब्रह्म ही है--इसे प्रत्यक्ष कराने वाला ज्ञान ही है । इसीलिए इसे सम्यक् ज्ञान या सामीप्य ज्ञान कहते हैं ।

मनुष्य को अभेद ज्ञान तक पहुँचाने वाले दो मार्ग हैं : आंतरिक और बाह्य । बाह्य साधना 'निष्काम कर्म है' अर्थात् कार्य के फल में आसक्ति न रख, समर्पित बुद्धि से कार्य करना । आन्तरिक साधना, ध्यान और समाधि हैं । वेदांतिक परिभाषा में इसे निदिध्यासन कहते हैं, श्रवण करना फिर श्रवण किए हुए पर ध्यान लगाना: यह दो क्रम निदिध्यासन अर्थात् आन्तरिक ध्यान के आधार हैं, इनके बिना ध्यान की प्राप्ति असम्भव है ।

आत्म-संयम का अर्थ है, इन्द्रियों पर नियन्त्रण, बाह्य इन्द्रिय-विषयक संसार में आसक्ति का न होना, बाह्य संसार से मन को हटा लेना । जीवन का लक्ष्य यही है; परमात्मा का ज्ञान और मुक्ति प्राप्त करना; मनुष्य के लिए इसके सिवाय अन्य कोई लक्ष्य हो नहीं सकता । उसे यह जीवन बंगले बनाने, जमीन-जायदाद पाने, धन संग्रह करने, संतान बढ़ाने, पदवी या उच्च सामाजिक स्तर पाने का साधन बनाने के लिए नहीं मिला है । उसकी श्रेष्ठता के आधार ये सब नहीं हैं । उसके लिए जीवन की सर्वोपरि विजय निरन्तर परमानन्द प्राप्ति और शोक व व्यग्रता से मुक्त होने में हैं ।

'श्रृन्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा' यह पुकार है । "विश्वभर के अमृत-पुत्रो सुनो" यह निमंत्रण है । अमरता का उत्तराधिकार स्वीकार करना होगा, उसका अनुभव करना ही होगा और पुनः विजय प्राप्त करनी होगी । नाम और रूप के स्वप्निल बंधनों को तोड़ना होगा । यह बंधन परिवर्तनशील और क्षणिक है । जीव का सच्चा, स्वाभाविक गुण शुद्ध परमानन्द और मुक्ति है जोकि पहले से ही था, और सर्वदा रहेगा । ऐसे ज्ञान की प्राप्ति ही सच्ची बुद्धिमत्ता है । क्षण भर का शोक और क्षण भर का सुख सच्ची भक्ति का लक्षण नहीं है । यदि तुम स्थायी, सच्ची, शुद्ध मुक्ति प्राप्त करना चाहते हो, तो मुझ में अनुरक्त होना ही होगा" कृष्ण ने कहा ।

"अर्जुन, इस प्रकार वृद्धावस्था तथा इन्द्रिय-शैथिल्य के दुःख से अपने को मुक्त करने के उद्देश्य से मुझ में अनुरक्त होकर जो आध्यात्मिक साधना करता है उसे ब्रह्म, कर्म और आत्मा के बारे में जानने योग्य सभी ज्ञान प्राप्त हो जायेगा । आधिभूत, आधिदैव और आधियज्ञ मेरे आधीन हैं, यह जानकर जो मेरी आराधना करता है उसकी एकाग्रता पुष्ट होती है और मन की चंचलता पर पूर्ण नियत्रण हो जाता है । इसके अलावा ऐसा व्यक्ति अपने अन्तिम क्षण तक मुझे

भूल नहीं सकेगा और मेरे ही ध्यान में डूबा रहेगा । इस प्रकार वह मुझ तक पहुँच भी जायेगा अर्थात् वह मुझमें ही लय हो जायेगा ।

"अर्जुन ! जरा और मृत्यु से सभी बचना चाहते हैं । मनुष्य के लिए यह चिंता स्वाभाविक है । लेकिन चिंता करने से क्या मिलेगा ? जैसा लक्ष्य हो वैसा ही आचरण और व्यवहार भी तो होना चाहिए । यदि किसी में सच्ची लगन, भगवान् में पूर्ण विश्वास और भक्ति-पूर्ण समर्पण है, तो उससे शोक का कुहरा भगवान् के अनुग्रह की किरणों द्वारा हटा दिया जायेगा । किन्तु इसके विपरीत यदि वह संसार के पदार्थों पर भरोसा रखेगा तो इसके परिणाम-स्वरूप मिलने वाले दुःखों का कभी भी अन्त न होगा, और सिवाय भगवान् के दूसरा कोई भी दुःखों का अन्त नहीं कर सकता । माया जिसके आधीन है, उस परमात्मा की सेवा करो; इस स्वप्न-जगत् के शिल्पी की सेवा करो स्वप्न की नहीं । भ्रम में आसक्त होने से सिवाय निराशा के और क्या मिलेगा ? ऐसी वस्तुओं का पीछा करने से सुख कैसे प्राप्त हो सकेगा ? सुख की प्राप्ति न हुई और शोक से भी न बचे तो मुक्ति कैसे प्राप्त हो पायेगी ?" कृष्ण ने पूछा ।

तब अर्जुन बीच में ही बोल उठा, "कृष्ण ! क्या ऐसे लोगों को आपकी प्राप्ति नहीं होती ? आप कहते हैं कि आपको पाने से पहले शोक पर विजय पानी होती है । ठीक है, लेकिन शोक का उत्पत्ति-स्थान क्या है ? शोक का सामना कैसे करना चाहिए ? यह कैसे उत्पन्न होता है ? इसके आदिकारण और क्रमिक विकास पथ को समझे बिना इस पर विजय कैसे प्राप्त हो सकती है ? कृपया मुझे बताइये कि मनुष्य के मन में शोक कैसे उत्पन्न होता है ?"

"सुनो, अर्जुन" कृष्ण ने कृपापूर्वक कहा, "सब प्रकार के शोक का उद्गम स्थान अ-ज्ञान है । अब तुम पूछोगे कि अ-ज्ञान का उद्गम स्थान क्या है ? मैं इसे बताता हूँ । इसका उद्गम स्थान शरीर से एकात्मकता है, स्वयं को शरीर समझने का भ्रम है । उपयुक्त ज्ञान की उपलब्धि द्वारा ही यह भ्रम मिट सकता है । अंधेरा उजाले से ही हट सकता है; डराकर, प्रार्थना द्वारा, दलील या विरोध करने से यह नहीं हटाया जा सकता । तुम कितना भी प्रयत्न कर देखो, जब तक प्रकाश नहीं होगा, अंधेरा नहीं हटेगा । इसी प्रकार, अज्ञान केवल इसे हटाने की इच्छा करने से नहीं हटेगा । एक बार यदि तुम इस अज्ञान के लक्षण और इसकी शाखाओं

के विस्तार को समझ लोगे तो सत्य का ज्ञान हो जाएगा ।

अज्ञान के हटते ही शोक भी हट जाता है । इसलिए मुझमें अनुरक्त होकर सत्य-ज्ञान की ज्योति प्राप्त करो और शोक रहित मार्ग का अनुसरण करो" कृष्ण ने उपदेश दिया ।

तुरन्त अर्जुन ने प्रश्न किया, "कृष्ण ! अभी तक तो आप उन मार्गों के बारे में बता रहे थे जो हमें आप तक ले जाते हैं । और अब इन तोप के गोलों जैसे आपके शब्दों का अर्थ मैं कैसे समझ सकूँगा ! और न आपने इन्हें समझने की शक्ति ही पहिले दी । कृपया इस विषय को विस्तार से मेरे सुख के लिए समझाइये, जिससे मैं स्पष्ट रूप से समझकर आपको प्राप्त कर सकूँ !"

तब कृष्ण ने उत्तर में कहा, "प्रिय बंधु ! सुनो ! ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, आधिभूत, आधिदैव और आधियज्ञ का अर्थ स्पष्ट रूप से समझते ही तुम्हें मेरा रहस्य मालूम हो जायेगा । और यह भी कहे देता हूँ, मेरे रहस्य को समझने वाला मुझे ही प्राप्त कर लेता है "।

"तब, भगवन् ! प्रथम विषय ब्रह्म के बारे में बतायें" अर्जुन ने विस्मित हो कहा ।

"अर्जुन ! 'अक्षरम् ब्रह्म परमम्' । ब्रह्म को परम अक्षर सूचित किया है । अक्षर अर्थात् जिसका क्षर न हो, या अनश्वर । ब्रह्म शब्द की उत्पत्ति जिस धातु से हुई है, उनका अर्थ है वृहत्, बहुत बड़ा इत्यादि । तुम मुझसे पूछोगे कि कितना वृहत् ? जिसे तुम वृहत् समझते हो, इससे भी अधिक वृहत्, यही इसका उत्तर है । अक्षर शब्द का दूसरा अर्थ विश्वव्यापी, सर्वत्र आसन्न भी है । तुम्हारे ध्यान में होगा कि ब्रह्मम केवल अक्षर नहीं है । वह परम अक्षर है । इसका अर्थ क्या है ? यह इस प्रकार का अक्षर है जोकि देशकालातीत और सब इन्द्रियों से परे हैं । इसे किसी एक विशेष या अविशेष श्रेणी में नहीं रखा जा सकता न इसका कभी क्षय है, न समाप्ति है परम अक्षर, सर्वोच्च, अविनाशी और अवर्णनीय है ।

इस ब्रह्म की प्राप्ति ही मानव-मात्र का लक्ष्य है । अक्षर और ब्रह्म दोनों एक तुल्य लक्ष्य है । दोनों एक ही सत्य के सगुण और निर्गुण स्वरूप हैं । क्योंकि अक्षर का एक अर्थ 'ओम' अथवा प्रणव है जो ब्रह्म का प्रतिरूप है । इसीलिए इसे अक्षर परब्रह्म-योग कहा है । ब्रह्म के परम और अक्षर दो विशेषण है । अक्षर प्रणव और

माया दोनों का सूचक है । माया भी प्रणव के अन्तर्गत है, और यह दोनों गुण-युक्त हैं, स-विशेष है । लेकिन ब्रह्म स्वतः में गुण रहित निर-विशेष, शुद्ध है । जो इस ज्ञान को प्राप्त कर लेता है, वह मुझे प्राप्त कर लेता है ।

अब एक दूसरा विषय : 'मैं' के रूप में ब्रह्म ही सबके शरीर में प्रतिष्ठित है । इसी 'मैं' की सत्ता से संग्लन शरीर का प्रत्येक हिस्सा और अंग अपने-अपने अलग कार्य करते हैं । बाह्य-जगत् से अपने सम्पर्क द्वारा प्रत्येक इन्द्रिय अपने विशिष्ट अनुभवों के प्रभाव को सूचित करती है । इन सब इन्द्रियों के पीछे उनसे सम्बन्धित शरीर में एक 'मैं' चमकता है । यदि 'मैं' का सम्बन्ध इनसे टूट जाये तो सब जड़ पदार्थ बन जायेंगे ।

इन्द्रियों में जब 'मैं' की शक्ति प्रवाहित होती है, तब वे अपने निर्धारित कार्य करने योग्य बनती हैं । इस शक्ति को अध्यात्म-शक्ति कहते हैं, इसे बिना महान् प्रयास के नहीं जान सकते । ब्रह्म तत् है, अध्यात्म त्वम् है । पैने विवेक के द्वारा ही इसे कुछ समझा जा सकता है । अधिक स्पष्ट करूँ तो तुम इन्हें स्वरूप और स्वभाव, आकार और पोषण समझ सकते हो । ब्रह्म आकार है और अध्यात्म पोषण है" कृष्ण ने कहा ।

इस विषय पर थोड़ा और विचार करें । शास्त्रों में ब्रह्म का वर्णन सत्-चित्-आनन्द के रूप में हुआ है, ठीक है न ? वेदांतिक परिभाषा में भी यही बताया है; इसे 'अस्तिभातिप्रियम्' भी सूचित किया है । क्या यह दोनों एक ही हैं ? सत् अर्थात् जो भूत, वर्तमान और भविष्य में नित्य हैं । 'अस्ति' का भी यही अर्थ है । चित् का अर्थ है जिसे सबका बोध है । 'भांति' शब्द का भी यही अर्थ होता है ! आनन्द अर्थात् अनन्त सुख का स्रोत; प्रियम् का भी अर्थ यही है । प्रत्येक मनुष्य में यह तीनों होते हैं; प्रत्येक पशु-पक्षी में भी ये पाये जाते हैं ।

अधिक स्पष्टता के लिए पहले 'सत्' को लें । कभी न कभी शरीर का नाश तो होना ही है, यह सभी जानते हैं । इस प्राथमिक सत्य से कोई अनभिज्ञ नहीं है, फिर भी मृत्यु से सब डरते हैं । मृत्यु का कोई स्वागत नहीं करता, न उससे मिलने को कोई उत्सुक होता है । तुम चाहे उसका स्वागत करो या न करो, मृत्यु का होना अनिवार्य है । तुम्हें उससे मिलना ही है । जो जन्म लेता है वह एक न एक दिन मरता ही है; फिर भी मरना कोई नहीं चाहता ।

ऐसे विरोधाभास का रहस्य क्या है ? इस पर ध्यान दो । वह कौन सी वस्तु है जो मृत्यु का स्वागत नहीं करती ? वह कौन है जिसकी मृत्यु होती है ? क्या जाता है ? क्या रहता है ? इसका उत्तर है कि शरीर की मृत्यु होती है; शरीर ही गिरता है, जो नहीं मरती वह आत्मा है । यह तुम्हारा केवल भ्रम है कि आत्मा अर्थात् 'तुम' मृत्यु को प्राप्त होते हो । आत्मा का मृत्यु या जन्म से कोई सम्बन्ध नहीं होता । मृत्यु का अनुभव शरीर को होता है; आत्मा जो कि नित्य, सत्य और निर्मल है मरती नहीं है । तुम आत्मा हो जो मरना नहीं चाहती । अर्थात् तुम सत् हो, तुम्हारा स्वभाव सत् है । आत्मा 'अमृत पुत्र' है, देह नहीं । आत्मा सत् है देह नहीं ।

तुम सत् हो, आत्मा हो, यह सत्ता हो जिसे मृत्यु स्पर्श नहीं करती है । प्रत्येक कोष में यही आत्मा है इसीलिए प्रत्येक इस सत् की शक्ति को नित्य, अपरिवर्तनशील अस्तित्व में अनुभव करता है । यह स्पष्ट और निश्चित है । अब चित् का विषय लें . यह शक्ति तुम्हें सब जानने के लिए प्रेरित करती है । अपनी चेतना के सम्पर्क में आने वाली हर वस्तु के बारे में प्रत्येक जानने को उत्सुक रहता है । वह पूछता है, "यह क्या है ? यह कैसे होता है ?" कम लोग ही यह ज्ञान प्राप्त कर पाते हैं । अन्य सब में पाने की उत्सुकता तो होती हैं लेकिन सफलता के लिए आवश्यक लगन और स्थिर बुद्धि नहीं होती । फिर भी इससे कोई फर्क नहीं पड़ता, मुख्य वस्तु तो प्यास और जिज्ञासा है ।

यदि तुम किसी बालक को बाजार या प्रदर्शनी दिखाने ले जाओ तो अनुभव करोगे कि बालक दोनों ओर की विभिन्न वस्तुएँ मात्र देखता हुआ आगे नहीं बढ़ता । अपना हाथ थाम कर ले जाने वाले व्यक्ति से वह निरन्तर पूछता है कि 'यह क्या है', 'वह क्या है' । इसे चाहे किसी ऐसी वस्तु की आवश्यकता न हो, या वह उसकी समझ के परे ही हो, उसके प्रश्नों की झड़ी कम नहीं होती ।

ज्ञान की भूख के आंतरिक महत्व पर थोड़ा विचार करो । यह चित्तशक्ति है जो अपने को इस प्रकार प्रकट करती है । किसी वस्तु को बिना समझे ही छोड़ दे यह उसका स्वभाव नहीं है । उसको समझे बिना उसे चैन नहीं मिलेगा; इसलिए ज्ञान की पिपासा प्रश्नों की झड़ी के रूप में प्रकट होती हैं । चित्त-शक्ति स्वयं प्रकाशित है इसलिए जड़ पदार्थों को भी प्रकाशित करने की शक्ति इसमें है । इसीलिए मनुष्य में यह गुण प्रकाशित होकर अन्य वस्तुओं को उसके सामने स्पष्ट

प्रकट कर देता है समझने के लिए इतना पर्याप्त है कि मनुष्य में चित्त-शक्ति तत्व है ।

जब तीसरा विषय 'आनन्द' का लें : दूसरों से शिक्षा या प्रेरणा लिये बिना, पशु और पक्षी भी आनन्द चाहते हैं व उसकी प्राप्ति का प्रयत्न करते हैं । दुःख या कष्ट पाने के लिए इनमें से कोई भी आकांक्षी नहीं है । दुःख और शोक अनिवार्य होने पर भी वे उनसे छुटकारा पाने का, अन्त करने का हर सम्भव प्रयत्न करते हैं ।

मनुष्य के बारे में तो यह विषय स्पष्ट ही है, क्योंकि वह भी हर समय, प्रत्येक व्यवहार और कार्य द्वारा आनन्द ही खोजता है । किसी भी समय, किसी भी जगह, किसी परिस्थिति में वह दुःख नहीं चाहता । उसकी उपासना, भजन, वचनों का पालन, धार्मिक कृत्यों की संपन्नता, तीर्थ या मानसिक कल्याण के लिए दिये गए दान सब वह अपने व कुटुम्बियों के सुख और आनंद के लिए पूजा समझ करता है । यही क्यों ? बीमारी से पीड़ित होने पर, निरोग और पुष्ट होने के लिए जब डॉक्टर दवा लिखता है, तब व्यक्ति उस दवा तक को मीठी, मनपसन्द और स्वादिष्ट चाहता है ।

इस इच्छा की जड़ क्या है ? मूल रूप में मनुष्य आनन्दमय, सुख-स्वभाव वाला है । परम आनन्द उसका निजी व्यक्तित्व है । जिस शरीर में वह रहता है वैसे लक्षण भी उसके नहीं है । वह आत्मा है; आनन्द आत्मा का स्वभाव है इसीलिए जब तुम सुखी दीखते हो तो किसी को आश्चर्य नहीं होता । तुम्हारी इस प्रसन्नता के बारे में कोई जिज्ञासा नहीं दिखाता क्योंकि आनन्द तुम्हारे लिए एक स्वाभाविक बात है । अचानक एक नई चीज की उपस्थिति ही आश्चर्य उत्पन्न करती है । प्रतिदिन दीखने वाली वस्तु जिज्ञासा तीव्र नहीं करती । अस्वाभाविक घटना के होने या देखने से ही जिज्ञासा उत्पन्न होती है ।

उदाहरण के लिए एक बच्चा पालने में है । खिलवाड़ में घण्टियों की छुनछुनाहट पर, किसी खिलौने पर, कोई सुनकर अनुभव होने से खिलखिलाता और हँसता है । यह देखकर किसी को आश्चर्य या चिंता नहीं होती. न इससे किसी की शान्ति भंग होती है । लेकिन यह खेलता और हँसता बच्चा जब चीखने और रोने लगता है, तब सुनने वाले सब दौड़े चले आते हैं और फिर बिछौने और पलंग के सब कपड़ों में इस क्षोभ का कारण खोजने लगते हैं । बच्चों के सम्पर्क में आने

वाले सभी लोगों का यही अनुभव है । बच्चा खुश क्यों है यह पूछने की चिन्ता किसी को नहीं थी, लेकिन जब वह रोया तब रोने का कारण ढूँढने आये ? क्योंकि शोक अस्वाभाविक बात है । शोक उसके आन्तरिक स्वरूप के विरुद्ध है ।

विषय यहीं समाप्त नहीं होता ! आगे कुछ और भी है । अनुभव से एक और उदाहरण लो । जब तुम्हारा कोई मित्र या रिश्तेदार सुखी और समृद्ध है तब कोई उससे सुखी होने का कारण नहीं पूछता । वे उस पर ध्यान नहीं देते, उसे प्रश्नों द्वारा तंग नहीं करते । लेकिन शोकग्रस्त अवस्था में जब वह दुःखी होता है तब तुम उसे और अपने को भी चिन्तित करते हो । क्यों ? आनन्द स्वाभाविक है, उसे रहना ही चाहिए, इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है । आनन्द आत्मा का स्वभाव है, प्रत्येक में आनन्द है इसीलिए मनुष्य हमेशा आनन्द चाहता है ।

ऊपर वर्णित तीन गुण सत्, चित् और आनन्द प्रत्येक जीव में, उसके प्रत्येक अंश के अस्तित्व में निहित हैं । इस प्रकार स्वयं परमात्मा जीव रूप धारण कर व्यक्ति का अभिनय कर रहे हैं । इसके ही आन्तरिक अर्थ को कृष्ण ने विस्तार पूर्वक समझाया जिससे कि ब्रह्म और अध्यात्म का संबंध, अर्थात्, इन दोनों को परमात्मा से एकरूपता समझी जा सके ।

तब कृष्ण से अर्जुन ने, तीसरे विषय कर्म के बारे में पूर्ण रूप से समझाने की विनती थी । कृष्ण ऐसी कृपा के लिए तत्पर थे । उन्होंने कहा, "अर्जुन ! जीवों की उत्पत्ति, पोषण और अन्त के लिए सीमांकन को कर्म कहते हैं । सब जीव चर या अचर है । उत्पत्ति के लिए संकल्प का आदिकर्म या प्रथम कर्म जिससे सभी सर्वत्र संचालित हैं, कर्म ही है । सम्पूर्ण विश्व, इसकी गति, हलचल और कार्य आदि कर्म, मेरे संकल्प का परिणाम हैं । और मेरे संकल्प के रहने तक कर्म का प्रवाह बहता रहेगा । जब तक मेरी इच्छा न होगी, यह कर्म प्रवाह रुकेगा नहीं । तुम्हें तो केवल इसके तेज प्रवाह में बहते जाना है । और फिर, तुम ही तो प्रवाह की धारा हो, तरंग हो, लहर हो । सभी कर्म मेरी इच्छा से प्रेरित होते हैं । इसलिए मेरी इच्छा के अनुकूल होकर किया गया कर्म मेरा ही अंश हो जाता है ।

पन्द्रहवाँ अध्याय

"कर्म मेरा स्वभाव है, मैं कर्म के रूप में व्यक्त होता हूँ" कृष्ण का ऐसा कथन सुनकर अर्जुन की व्याकुलता बढ़ गई । भगवान् ने तब इसे स्पष्ट किया और कहा "सब कर्म दिव्य हैं और उनके ही सार रूप हैं । तुम्हारे लिए इतना ही जानना काफी है कि ब्रह्म, आत्मा और कर्म, यह तीनों 'मैं' ही हूँ । इस ज्ञान की प्राप्ति से तुम मुक्त हो जाओगे । अन्य किसी भी बात की चिंता न करो ।"

ऐसा कहकर कृष्ण ने वहीं बात समाप्त कर दी । इससे यह स्पष्ट हो गया कि कृष्ण रथ को शत्रुओं की पंक्ति में ले जाकर युद्ध प्रारम्भ करना चाहता थे । समय शीघ्रता से बीता जा रहा था ।

लेकिन अर्जुन दृढ़ था । उसके विचार पृथक थे । कोई भी साधारण मनुष्य कृष्ण के साथ इतनी देर तक बात नहीं कर सकता था । जब कृष्ण ने कह दिया कि, "अन्य किसी वस्तु की चिंता न करो" तो किसी को भी चिंता नहीं करनी चाहिए । लेकिन अर्जुन कृष्ण के लिए योग्य प्रश्न-कर्ता था और कृष्ण अर्जुन के लिए योग्य शिक्षक थे । वास्तव में वे नर-नारायण थे, ठीक है न ? इस वार्तालाप के औचित्य, रुचि व महत्व का यही कारण है ।

अर्जुन बात वहीं समाप्त करने में संतुष्ट नहीं था, उसने कृष्ण के आश्वासन को स्वीकार नहीं किया और उनसे प्रार्थना की, "भगवान ! तीन अन्य विषयों के बारे में भी बताकर मुझे इस संदेह के जाल से छुड़ाइये । मेरी आपसे विनती है कि इस अन्धकार को मिटाकर अपनी वास्तविकता को मुझे प्रत्यक्ष दिखाइये" अर्जुन ने आग्रह किया । यह सुनकर कृष्ण कुछ द्रवित हुये । उन्होंने अर्जुन की पीठ थपथपाई और उत्तर दिया, "दु:खी मत होओ, मैं तुम्हें सब बताऊँगा । आधिभूत जिसका मैंने उल्लेख किया है वह कोई इतनी भयंकर उलझन नहीं है, इसे सभी समझ सकते हैं । जो सब क्षय होकर नष्ट होता है, जिसका रूप व नाम है, वह सब आधिभूत है ।"

"दूसरे शब्दों में आधिभूत अपरा-प्रकृति है । इस जगत् की तथा अन्य सभी लोकों की जितनी साकार वस्तुएँ हैं, सब आधिभूत हैं । इतना ही नहीं, वे मुझ से भिन्न नहीं हैं" । अर्थपूर्ण दृष्टि अर्जुन पर डालकर वे वहीं रुक गये और इस विषय को आगे नहीं समझाया ।

परमात्मा की लीला वे स्वयं ही जानते हैं । अन्य कोई भी इस लीला का अर्थ और आशय नहीं समझ सकता और इन्हें समझने का प्रयत्न करना भी व्यर्थ है ।

"मैं मुझसे भिन्न नहीं हैं" यह सुनकर अर्जुन आश्चर्य से स्तब्ध हो गया । संदेह से उसका मस्तक भारी होने लगा । उसकी बुद्धि जड़ हो गई, विश्वास डगमगा गया और संदेह तीव्रता से बढ़ने लगा । उसे इस प्रकार दुःख क्यों हुआ ? उसकी इस मानसिक व्याकुलता का कारण क्या था ?

यह प्रकट करने के बाद कि, "मैं सत्-चित्-आनन्द हूँ; सत्य, नित्य सत्ता हूँ, मृत्यु, क्षय या नाश का मुझ पर प्रभाव नहीं पड़ता", कृष्ण ने एक विचित्र बात भी स्वीकार की कि वह स्वयं क्षणभगुर, परिवर्तनशील व नाशवान देह भी हैं । अर्जुन के मस्तिष्क में होने वाली व्याकुलता का यही कारण था । ऐसे परस्पर विरोधी कथन सुनकर कोई भी सन्देह में पड़ जायेगा, अर्जुन की दशा देखकर कृष्ण हँसने लगे ।

वे और अधिक देर नहीं करना चाहते थे; फिर भी समय के अभाव और अर्जुन की संकटावस्था के मूल कारण को ध्यान में रखते हुए वे उसका संदेह दूर करने को तुरन्त तैयार हो गये । "अर्जुन ! तुम इतने व्याकुल क्यों हो रहे हो ? "मैं क्षणभगुर देह भी हूँ", क्या यह सुनकर घबरा गये । साधारण मनुष्य यह सुनकर अवश्य व्याकुल हो जायेंगे । ऐसी बात को वे स्वीकार भी नहीं करेंगे क्योंकि दोनो परस्पर-विरोधी कथन हैं । लेकिन क्षणिक, परिवर्तनशील व नश्वर देह मुझसे सम्बन्ध रखती है, मैं ही वह आधार हूँ जिसमें से यह प्रकट होती है । मेरे बिना देह का कोई अस्तित्व ही नहीं है । इसके आदि कारण पर फिर से विचार करने पर तुम स्पष्ट समझ जाओगे । शरीर के मूल कारण की कथा को सुनो जिससे तुम्हें इसका रहस्य ज्ञात हो जाये । सुनो, शरीर अपनी उत्पत्ति के लिए प्रथम तो उस अन्न का आभारी है जिसे उसके माता-पिता खाते हैं, ठीक है ? वह अन्न कहाँ से आया ? पृथ्वी-तत्व से, अनाज व अन्य वस्तुओं से, जो पृथ्वी से पैदा होती है और पृथ्वी-तत्व कहाँ से उत्पन्न हुआ ? जल-तत्व से । पुनः विचार करने से मालूम होगा कि जल-तत्व, अग्नि-तत्व से पैदा हुआ, अग्नि वायु से, वायु आकाश से और आकाश परमात्मा की माया से हुआ । यह माया मेरा वस्त्र मात्र है ।

मेरा वस्त्र जिसकी मैंने इच्छा की और उसे चारों ओर लपेटा, वह आकाश बन गया, आकाश वायु में परिवर्तित हुआ, वायु अग्नि में बदल गया, अग्नि से

जल, जल से पृथ्वी, पृथ्वी से अन्न उत्पन्न हुआ, अन्न से शरीर हुआ, अब स्पष्ट हो गया कि देह भी मैं ही हूं । इस पर सन्देह क्यों करते हो ?

"इसीलिए मैं आधिभूत भी उतना ही हूँ, जितना कि मेरे पूर्व कथनानुसार मैं ब्रह्म, अध्यात्म या कर्म हूं इस लिए सबका परिणाम रूप भी मैं ही हूँ । मैं परम-आत्मा हूँ और बाकी सब आधिदैव हैं । प्रत्येक शारीरिक किले या शरीर में हिरण्यगर्भ नामक दिव्यता उपस्थित है । मनुष्य की सेवा के लिए जिस प्रकार उसकी इन्द्रियाँ होती हैं, उसी प्रकार हिरण्यगर्भ की सेवा के लिए आधिदैव है ।

"तुम्हें यह जानने की उत्सुकता होगी कि यह आधिदैव क्या कार्य करते होंगे । वे दैवी संकल्प की सेवा करने वाले देवता हैं । जैसे कि, सूर्य से नेत्र को प्रकाश मिलता है, कर्ण दिग्देवताओं से श्रवण शक्ति प्राप्त करते हैं; इन्द्र हाथ का प्रेरक है और इसके अलावा अन्य अधिष्टाता देवता हिरण्यगर्भ की इन्द्रियाँ हैं, चैतन्य शक्तियाँ हैं । कोई चाहे कितना ही उच्च प्रतिष्ठित और पहुँचा हुआ साधक हो, वह केवल हिरण्यगर्भ द्वारा ही परम सत्ता को प्राप्त कर सकता है । यथार्थ में हिरण्यगर्भ ही ईश्वरतत्व है, यह दोनों अभिन्न हैं । यह समझ गये न अर्जुन ? मैं उतना ही आधिदैव हूँ जितना कि आधिभूत । इतना ही यह दोनो हैं जितना कि मैं "ब्रह्म, अध्यात्म और कर्म" हूँ । यह सब पूर्णतया दिव्य हैं ।

"अब दूसरी सत्ता आधियज्ञ है । यह भी मैं हूँ । यह वह सत्ता है जो अनेकों कर्मों को करने वाली और उसके परिणामों की, सुख और दुःख की उपभोक्ता है । शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध को मैं ही सब प्राणियों की पाँच इन्द्रियों द्वारा, जो कि आधियज्ञ तत्व हैं, प्राप्त करता हूँ । मैं केवल कर्म के लिए उत्तरदायित्व रखने वाला कर्त्ता ही नहीं अपितु भोक्ता भी हूँ जिसके लिए कर्म किया जाता है और जो फल प्राप्त करता है । इस प्रकार मैं ही देता हूँ और मैं ही लेता हूँ ।"

वास्तव में कृष्ण ने अपने इस सत्य को, इस यथार्थ को स्पष्ट कर दिया कि वही आधियज्ञ हैं और इस प्रकार उन्होंने अर्जुन के ज्ञानचक्षु खोल दिये । लेकिन साधारण बुद्धि के व्यक्तियों को इसका अन्तरवर्ती अर्थ समझना कठिन हो सकता है । फिर भी जीवन से कुछ उदाहरण लेकर समझना सरल होगा । हवा के लिए तुम पंखा चलाते हो, प्रकाश पाने के लिए बिजली का बटन दबाते हो, खाना पकाने के लिए बिजली का चूल्हा जलाते हो, श्रोताओं की विशाल भीड़ के सामने भाषण

के लिए माइक्रोफोन और ध्वनि विस्तारक यन्त्र रखते हो, या तुम्हें कुछ छापना हो तो छपाई के यन्त्र का बटन दबाते हो । यह सब भिन्न चेष्टाएँ हैं और तुम्हें मालूम होगा कि किसी एक का दूसरे से कोई सम्बन्ध नहीं । प्रकाश और हवा, गर्मी और ध्वनि का कोई आपसी सम्बन्ध नहीं है, उनके कार्य भी एक दूसरे से भिन्न हैं किन्तु इन सब को संचालित करने वाला कर्त्ता एक ही विद्युत शक्ति होती है । आकृति और अभिव्यक्ति का ढंग अलग हो सकता है, लेकिन आधार, प्रेरणा, अन्तरवर्ती शक्ति तो एक ही है ।

विद्युत-शक्ति की तरह ईश्वरतत्व भी सब साधनों द्वारा कार्य करता है और सब साधनों द्वारा किये गये कार्यों का फल-दाता है, वही सर्व-कर्म-फल-दाता है । सब प्राणियों का वह अन्तरवर्ती प्रेरक है--सर्व-भूत अन्तर-आत्मा है । सब कर्मों को संचालित करने वाला होने से उसे आधियज्ञ कहा गया है ।

सातवाँ विषय प्रणव है । मृत्यु क्षण पर इसका उच्चारण अक्षर५रब्रह्म में विलय कराता है" । कृष्ण का यह कथन सुन अर्जुन ने इस विषय को कुछ और अधिक स्पष्ट करने की विनती की जिससे वह उसे अच्छी तरह जान सके । कृष्ण ने यह प्रसन्नता-पूर्वक स्वीकार कर लिया । "मृत्यु समय" का अर्थ भविष्य का कोई क्षण नहीं है । इसका अर्थ है 'इसी क्षण' ! कोई भी क्षण 'मृत्यु क्षण' बन सकता है । इसलिए प्रत्येक क्षण 'अन्तिम' ही है जिसे प्रणव से भरना चाहिए । मृत्यु के समय जो विचार प्रबल होता है वही उस व्यक्ति के भाग्य को उसकी मृत्यु के बाद बनाता है । इसी विचार की नींव पर अगले जन्म का निर्माण होता है । उस समय जो मुझे याद करता है उसे मेरी महत्ता प्राप्त होती है अर्थात् वह मुझे प्राप्त कर लेता है । इसलिए मनुष्य के प्रत्येक कर्म व प्रत्येक साधना का लक्ष्य उस अन्तिम क्षण को पवित्र बनाना है । जीवन के वर्ष ऐसे अनुशासित होने चाहिए जिससे मृत्यु-समय पर परमात्मा या प्रणव का ही विचार आये !

"जिसे त्यागना चाहिए वह यह देह, भौतिक कोश है । जो प्राप्त करता है वह परब्रह्म है : देह के अन्दर तुम्हारी वास्तविकता, तुम्हारा स्वरूप है जिसे त्यागा नहीं जा सकता, जो अविनाशी और अमर है, सत्य और नित्य है । इस सत्ता को आत्मा कहें या परमात्मा एक ही बात है । तुम भी वही हो, इसलिए इसे अपने से हटा नहीं सकते । शरीर को छोड़ना, कई वर्षों से रहने वाले मकान को छोड़ने जैसा है; और

जन्म लेना नये मकान में प्रवेश करना है । यह दोनों शारीरिक चेष्टाएँ हैं जिससे आत्मा प्रभावित नहीं होती । अर्जुन ! आत्मा न तो अन्दर आती है, न बाहर जाती है । देहतत्व की मिथ्या में जो फँसे हैं उनको आत्म-साक्षात्कार नहीं होता । देहतत्व का क्षय और मृत्यु संभव है । पूर्व उल्लिखित छः विषयों से भी अधिक प्रणव को जो कि मुक्तिदायक शक्तिशाली मंत्र है स्पष्ट समझ लेना चाहिए । जीवन के वर्ष अन्त की प्राप्ति के उपयोग में लाने चाहिए कि जब शरीर को छोड़ा जा रहा हो, मन प्रणव पर दृढ़ जमा हो । जिस प्रकार खाये हुए अन्न की गंध तुम्हारी ढकार में रहती है, उसी प्रकार तुम्हारा अन्तिम विचार जीवन भर पोषे गये विचारों का सत्व है ।

"जैसी तुम्हारी साधना होगी वैसी ही तुम्हारी सद्गति होगी ।" उन्नति अभ्यास से मिलती है । जिस समय शरीर से छुटकारा हो रहा हो उस समय मन को सतत पवित्र विचारों पर दृढ़ रखने की आवश्यकता की सावधानी रहे । अर्थात् तुम्हारे जीवन का प्रत्येक क्षण पवित्र विचारों में पगा रहे ।"

तब अर्जुन ने पूछा, "हे भगवन् ! मृत्यु समय पवित्र विचार आने के लिए व्यक्ति को क्या इसी क्षण, अभी से ही प्रयत्न करना चाहिए ? ऐसे विचार उसी समय नहीं लाए जा सकते ?" भगवान् ने उसके संदेह को समझकर उत्तर दिया, "लगता है तुम्हारी बुद्धि बहुत अधिक मंद हो गई है ! क्योंकि तुम इस इस क्षण से ही पवित्र विचारों में लीन रहने की आवश्यकता स्वीकारने से हिचकिचा रहे हो । अर्जुन, मन को सतत अभ्यास द्वारा अभ्यस्त व अनुशासित करने को अभ्यास-योग कहते हैं । अन्य विचारों को त्यागकर केवल परमात्मा पर ही एकाग्र हो ध्यान कर सके, इस प्रकार मन को प्रशिक्षित करना चाहिए । परमपुरुष की प्राप्ति तुम्हें इसी प्रकार हो सकती है । तुम यदि नियमित रूप से मन को अनुशासित व प्रशिक्षित नहीं करोगे तो मृत्यु समय वह परम-पुरुष का स्मरण नहीं करेगा और ऐसा कर भी नहीं सकता ।

तुम मुझसे इसका कारण पूछोगे । ठीक है । अपना ही उदाहरण लो । निकट भविष्य में होने वाले युद्ध में इन आक्रामक और बचाव के शस्त्रों का उपयोग तुम कर सकते हो क्योंकि तुमने वर्षों से उन्हें चलाने की कला का अभ्यास किया है, है न ? बिना अभ्यास के तुम उनका उपयोग आत्म-विश्वास से समय आने पर कर सकते थे ? क्या यह सम्भव हो सकता है ? क्षत्रिय को एक न एक दिन शस्त्रों का

उपयोग करने के लिए बुलाया जायेगा इसलिए बचपन से ही उसे यह कला सिखाई जाती है, जिससे वह संकट का सामना करने को तैयार रहे ।

इसी तरह व्यक्ति को अपने जीवन में चाहे और कुछ न मिले परन्तु मृत्यु तो अवश्य ही मिलनी है । इसलिए प्रत्येक को उस समय के लिए अधिक से अधिक लाभप्रद स्थिति और विचार रखने का प्रशिक्षण लेना चाहिए अन्यथा जीवन असफल और व्यर्थ माना जायेगा । जो व्यक्ति ऐसे अन्त की तैयारी नहीं रखता, उसका आगे जैसा भी भाग्य होगा वह उसे सहना पड़ेगा । युद्धक्षेत्र मे कोई हारने की इच्छा से प्रवेश नहीं करता । इसी प्रकार कोई भी स्वेच्छा से अपना पतन नहीं चाहता, वह तो केवल उन्नति ही चाहता है । इसलिए जिसमें तुम्हारा कल्याण हो ऐसी मृत्यु के लिए प्रयास क्या बुद्धिमानी नहीं है ? इसी क्षण से प्रत्येक मनुष्य को सातवें विषय--प्रणव का जीवन के अन्तिम क्षण पर विचार आने के लिए गम्भीर प्रयत्न करना चाहिए । जो भी प्रणव का विचार करते हुए देह छोड़ता है वह मुझे प्राप्त करता है ।" कृष्ण ने सूचित किया ।

यह गीता का सम्पूर्ण सार है । सब मनुष्यों के कर्मों का लक्ष्य उन्नति की चरम सीमा को ही प्राप्त करना है, है न ? इसी उत्कंठा से प्रेरित हो वह प्रार्थना, जप और ध्यान करता है । अर्चना और तपस्या में अपने को व्यस्त रखता है और जो इस पर विश्वास रखते हैं उन्हें अपने लक्ष्य को सदैव ध्यान में रखना चाहिए ।

कृष्ण ने कहा कि 'ॐ' या 'प्रणव' का मृत्यु क्षण पर स्मरण करना ही चाहिए । इससे सम्बन्धित कुछ विशेषताओं को समझना आवश्यक है । बहुत से लोगों का तर्क है कि प्रणव-जप के अधिकारी कुछ व्यक्ति ही होते हैं, सभी नहीं । यह भूल है । सत्य से अनभिज्ञ होने के कारण ही लोगों ने ऐसा गलत निष्कर्ष निकाला है जिसका आधार मिथ्या धारणा है ।

गीता में ऐसा उल्लेख नहीं आता कि वह किसी अमुक समुदाय के लिए ही है । कृष्ण के शब्द "कोई भी," बिना किसी विशिष्ट सम्बोधन के हैं, और गीता अमुक समुदाय या अमुक वर्ग के लिए ही है ऐसा अर्थ प्रकट नहीं करते । उन्होंने यह भी नहीं कहा कि "कौन योग्य है या कौन अयोग्य है, किसे अधिकार है या किसे अधिकार नहीं है". उन्होंने तो इतना ही प्रकट किया कि प्रणव पर ध्यान करने (केवल रटना नहीं) के लिए इन्द्रिय-निग्रह, मन की एकाग्रता, इत्यादि जैसे

प्राथमिक नियमों का पालन करना होगा ।

क्योंकि मन जब एक कल्पना से दूसरी पर उड़ रहा हो तो उस समय केवल कण्ठ द्वारा उत्पन्न ध्वनि 'ओम्' 'ओम' से कैसे लाभ मिल सकता है । मुक्ति पाने में केवल ध्वनि सहायता नहीं करेगी । इन्द्रियों का नियंत्रण, विचारों की एकाग्रता रखनी होगी और भगवान् की महिमा को समझना होगा । इसीलिए भगवान् का उपदेश है कि जन्म से मृत्युपर्यन्त व्यक्ति को सत्य की ही खोज में लगे रहना चाहिए । इसके विपरीत यदि तुम साधना को अन्तिम क्षण तक के लिए टालोगे तो ऐसे विद्यार्थी की तरह हो जाओगे, जोकि परीक्षा-कक्ष में प्रवेश करने के कुछ ही क्षण पूर्व, प्रथम बार पाठ्यक्रम की पुस्तक के पन्ने पलटता है । विद्यार्थी यदि यह सोचे कि आगे पूरा एक वर्ष पड़ा है और वह शिक्षक, भाषण-सारांश व पुस्तकों द्वारा विषय सीखने की परवाह नहीं करता तो उसके दिमाग में परीक्षा के दिन ही अपनी पुस्तक के पृष्ठ खोलने से विषय कैसे घुस सकता है ? इससे तो वह निराश हो जाएगा । उसको तो केवल 'आलस्य में प्रवीण' घोषित किया जा सकता है ।

अपने अहाते मे बीज बोते ही उसी क्षण कोई भी बीज वृक्ष बनकर, फल नहीं देने लगेगा । ऐसी अवस्था पाने के लिए उसे सावधानी पूर्वक, दीर्घ काल तक पोसना होगा, है न ? इसी प्रकार इच्छानुसार फल पाने के लिए सावधानी पूर्वक यत्न करना चाहिए । कोई भी व्यक्ति सतर्कता और दृढ़ता व प्राथमिक नियमों का निरन्तर पालन किए बिना फल प्राप्त नहीं कर सकता ।

इस बात का ध्यान साधक को सदैव रखना है । "कैसा जन्म होना चाहिए," की आकांक्षा के बदले "कैसी मृत्यु होनी चाहिए" ऐसी आकांक्षा अवश्य ही रखनी चाहिए । क्योंकि जैसी मृत्यु होती है वैसा ही जन्म होता है । पहले मृत्यु होती है बाद में जन्म होता है । लोगों का विश्वास है मनुष्य जन्म मरने के लिए ही होता है और वे मरते इसलिए हैं कि उनका फिर से जन्म हो । यह एक भूल है । तुम्हारा जन्म इसलिए होता है कि तुम्हारा पुनः जन्म न हो । तुम्हारी मृत्यु इसलिए होती है कि तुम्हारी फिर से मृत्यु न हो । अर्थात् मरने वाले को ऐसी मृत्यु प्राप्त करनी चाहिए कि उसे फिर से जन्म न लेना पड़े । एक बार मृत्यु होने पर दुबारा जन्म नहीं होना चाहिए जिससे कि पुनः मरना पड़े । यदि जन्म है तो मृत्यु अनिवार्य है । जन्म का त्याग करो और मृत्यु का भी त्याग करो ।

इसलिए साधक को अच्छे जन्म की लालसा न रख, अच्छी मृत्यु की आकांक्षा रखनी चाहिए । तुम्हारा जन्म संपन्न घराने या अच्छे कुल या शुभ व भाग्यशाली परिस्थितियों में हुआ हो फिर भी आगे होने वाले कार्य अच्छी मृत्यु देने वाले नहीं हो सकते हैं इसलिए अच्छी मृत्यु का लक्ष्य रखने से पुन: जन्म लेने का कष्ट और मृत्यु का होना टाला जा सकता है ।

मनुष्य जन्म में प्रत्येक को अपने अन्त का सदैव ध्यान रखना है । उस अन्त को यथार्थ में शुभ बनाने के लिए अच्छे विचार और अच्छे कार्य करने का अभ्यास बढ़ाते रहना चाहिए । अच्छी मृत्यु पाना निश्चित रूप से भगवान् का अनुग्रह पाने का चिन्ह है ।

सोलहवाँ अध्याय

मृत्यु का समय आने पर, साधारण मनुष्य माधव पर अपना मन इतनी सुगमता से स्थिर नहीं रख पाता । इसके लिये पहले से नित्य अभ्यास, विशेष प्रकार की योग्यता जिसे पूर्व संस्कार कहते हैं, आवश्यक है । इसके लिए चित्तवृत्ति के निरोध की एक निश्चित क्रिया-विधि का अभ्यास होना चाहिए; उसे योग-युक्त, योग-मग्न रहना होगा । इतना ही नहीं, अन्य विचारों को भी तुच्छ, हेय और दूषित समझ त्यागना होगा । दूसरे विषयों के प्रति ऐसी अरुचि हमेशा दृढ़ता से बढ़ती रहनी चाहिए । इन दोनों के होने से माधव पर ध्यान लगेगा और अन्तिम क्षणों तक स्थिर रहेगा ।

इसलिए तुम्हारा मन एक महत्वपूर्ण वस्तु है । जब मन सड़ जाता है, तब सब कुछ सड़ने लगता है । मनुष्य अपने मन की गति से चलता है; मन उसे जिस दिशा में ले जाता है, वह उधर ही जाता है । मंन को आधीन व अनुशासित करना, अच्छी आदत और नियमित शिक्षा प्राप्त करना आवश्यक है । इसके लिए साधना की अवस्थाओं में भगवान् को मन में कैसे स्मरण करना चाहिये और किस प्रकार की

चेतना और भावना से भगवान् को मन में स्थिर किया जाना चाहिए, कृष्ण इसका वर्णन करने लगे ।

"अर्जुन ! लोग मेरा तीन प्रकार से वर्णन करते है।-- (१) निर्गुण निराकार, (२) सगुण निराकार और (३) सगुण साकार । पहले मैं सगुण निराकार के बारे में तुम्हें बताऊँगा कि इस भाव में भगवान का तुम्हें कैसा स्वरूप देखना चाहिए । सुनो, यहां भगवान का वर्णन, कवि, पुराण, अनुशासित सूक्ष्म से सूक्ष्मतर, सब का आधार-रूप, अवर्णनीय स्वरूप वाला, सूर्य सा तेजस्वी, अज्ञान और अन्धकार से परे, ऐसा है" ।

यहाँ पर अर्जुन ने कृष्ण को बीच में ही टोकते हुए पूछा, "भगवन् ! आपने कहा कि ईश्वर कवि है । कवि तो साधारण मनुष्यों में भी होते हैं । फिर आप ईश्वर को कवि कह कर उसका अपमान नहीं करते हैं । या ईश्वर से सम्बन्धित 'कवि' शब्द क्या कोई विशिष्ट अर्थ रखता है ? इस बात को जरा स्पष्ट समझाइये ।" कृष्ण ने कहा, "कवि का अर्थ छन्दप्रणेता मात्र नहीं है । जो भूत, वर्तमान और भविष्य को जाने वह भी कवि कहलाता है और इसलिए ईश्वर का ऐसा वर्णन है । कवि को 'सर्वज्ञ, क्रांत-दर्शी' --'जो आगे का क्रम देख सकता है', कहा गया है । भगवान ही हृदय में रहकर उसमें क्रमशः परिवर्तन करते है । कवि ही समस्त उत्पत्ति का प्रेरक है, मूल आधार है, ईश्वर कवि है; यह सब सृष्टि उसकी कविता है ।" अर्जुन ने फिर पूछा, "भगवन्, आपने ईश्वर को पुराणम् भी कहा, इसका क्या अर्थ है ?" कृष्ण ने उत्तर दिया, "निस्सन्देह ईश्वर बहुत प्राचीन है, लेकिन वह जितना प्राचीन है उतना ही नूतन भी है । वह सनातन है, आदि काल से है, आरम्भ से परे है । वह नूतन भी है; हर क्षण नया है । पुराणम् का अर्थ है, 'पुरा नवमिति' --पूर्व में नया तथा भूत एवं वर्तमान के प्रत्येक क्षण में भी नया ।

'अनुशासित' शब्द का क्या अर्थ है ?

"स्वतन्त्र, स्वच्छद स्वामी । वह आचरण के नियमों को प्रस्थापित करता है । पंचतत्व उसकी आज्ञानुसार कार्य करते हैं । उसके द्वारा निर्धारित सीमा का वे उल्लंघन नहीं कर सकते । उसके नियम सब प्राणियों के अर्न्तजगत पर शासन करते हैं, ऐसा शासन जो मनुष्य के बनाये नियम भी नहीं कर सकते । वह मन के प्रदेश में कार्य करता है ।

"उसके बाद आपने कहा कि वह अणोरणीयान है --सूक्ष्म से सूक्ष्मतर "।

"सूक्ष्म ...? शायद सूक्ष्म का अर्थ तुमने एक सूक्ष्म दर्शन यन्त्र से देखी जाने वाली एक अति सूक्ष्म वस्तु सोची होगी । नहीं, नहीं । सूक्ष्म से सूक्ष्मतर का अर्थ, निर्गुण, विशिष्ट लक्षण रहित, गुण रहित है । ऐसा, जिसे नेत्र, कान या दूसरी इन्द्रियों की सहायता से भी न समझा जा सके । वस्तु के गुणों में कमी होने से वह सूक्ष्मतर हो जाती है । गुणों के अधिक होने से उसकी सूक्ष्मता कम रहती है ।

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये क्रमशः आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी इन पाँच तत्वों के विशिष्ट गुण हैं । पृथ्वी में पाँच तत्व हैं, जल में मात्र चार हैं, अग्नि में तीन --रूप, स्पर्श और शब्द हैं, वायु में केवल स्पर्श और शब्द हैं, आकाश में केवल शब्द ही है । अर्थ यह है कि प्रत्येक दूसरे से सूक्ष्मतर है और आकाश सबसे सूक्ष्म है ।

यह प्रत्यक्ष प्रकट है । पृथ्वी स्थिर है । जल सूक्ष्मतर है इसलिए वह बहता है । अग्नि जल से भी सूक्ष्म है इसलिये वह ऊपर उठता है और वायु जो अग्नि से भी सूक्ष्म है, वह सब ओर जा सकती है । आकाश का मात्र एक गुण है, शब्द । उसमें न 'स्पर्श', न 'रूप', न 'रस' न 'गन्ध', है । ईश्वर जो कि उन पाच तत्वों से परे है, उसमें यह कोई भी गुण नहीं है । इसीलिए वह सूक्ष्मतम से भी सूक्ष्म है । वह सर्वव्यापी है, सब में आसन्न हैं । किसी वस्तु के भारी होने का कारण उसमें गुणों का आधिक्य है । ईश्वर में ऐसा कोई भार नहीं है, इसलिए वह अन्य सबसे सूक्ष्म है ।

अब पाँचवें लक्षण--सर्वाधार के बारे में । इसके दो प्रकार हैं : आधार और आधेय । समस्त अस्तित्व, तथा जो आंख से देखा जा सके या कान से सुना जा सके (अर्थात् पूर्ण सृष्टि) आधेय है, ये सब पंचतत्वों से बने हैं । सब पंच तत्व आधेय हैं क्योंकि वे आधार अर्थात् 'ब्रह्म' पर आधारित हैं । केवल ब्रह्म ही उनका आधार है । ब्रह्म किसी अन्य सत्ता पर आधारित नहीं है, क्योंकि अन्य कोई सत्ता है ही नहीं । इसलिए वही सर्वाधार अर्थात् सब का आधार है ।

छठवाँ लक्षण भी मैं तुम्हें स्पष्ट करता हूँ । अचिंत्य रूपम् : जो विचारा न जा सके ऐसा रूप । ऐसा स्वरूप जो कि अवर्णनीय, अचिंत्य है । क्योंकि भगवान तो मन की पहुँच से बाहर हैं और वर्णन करने वाला मन ही होता है, विचार और

कल्पना भी नहीं करता है । इसलिए भगवान का रूप अचित्य है । मन द्वारा उसकी कल्पना अशक्य है । तुम इसे स्वीकार करने में हिचकिचाओगे । लेकिन मन तो पदार्थ है, जड़ है । यह गतिशील है । लेकिन ब्रह्म या परमात्मा शुद्ध 'चेतना' है । यह नित्य, अनन्त, अविनाशी है । वह और मन दोनों एक-दूसरे के विपरीत हैं - चंचल और अचल । दोनों का एक दूसरे से बिल्कुल सम्बन्ध नहीं है । एक नश्वर है, दूसरा नित्य है । जड़ और क्रियाशील असम्बन्धित है ।

तुम्हारे मन में प्रश्न उठेगा कि फिर साधक को क्या करना चाहिए ? साधक को निराश होने की आवश्यकता नहीं है । परमात्मा निराकार है, वह केवल इतना ही चिन्तन करे यह पर्याप्त है । इस प्रकार के विचारों पर स्थित रहो और तुम्हें फल अवश्य प्राप्त होगा । साधक को पहले यह सीख लेना आवश्यक है कि उसके विचारों को किन दिशाओं में बहना है ।

अर्जुन ने कृष्ण से प्रार्थना की : "भगवन् जल्दी करिए । समय शीघ्र बीत रहा है । हम इस युद्ध क्षेत्र में एक ही जगह बिना कोई उत्तरदायित्व लिए या बिना किसी निर्णय पर आये, ठहर नहीं सकते । युद्ध मुंह खोले हमारे सामने हमें निगलने और कुचलने के लिए तैयार है । आपके निर्देशों का प्रसन्नतापूर्वक पालन करने के लिए मैं उद्धत हूँ । देर न कीजिये । इसलिए, सातवें लक्षण सगुण निराकार के बारे में शीघ्र उपदेश दीजिये ।"

कृष्ण बोले, "हाँ ! सातवाँ है आदित्यवर्ण, सूर्य के समान तेजस्वी । इसका अर्थ है 'भगवान् स्वयम् प्रकाशित सूर्य की तरह हैं, वे स्वतंत्र हैं, जिस प्रकाश से सूर्य दैदीप्यमान है, उस प्रकाश का वे उद्गम् स्थान हैं । वे सूर्य का तीव्र प्रकाश हैं, उन्हीं से सूर्य चमकता है । इसीलिए उन्हें आदित्य नाम दिया है । मैं आठवें लक्षण के बारे में भी बताता हूँ । तमस. परस्तात्: "अन्धकार से परे"--वह अन्धकार या अज्ञान का साक्षी है । क्योंकि, पर का अर्थ है साक्षी, वह जो अप्रभावित है । अज्ञान जैसा घोर अन्धकार दूसरा नहीं है । माया इस अज्ञान का दूसरा नाम है, इसलिए तमसः परस्तात् का अर्थ है, "माया से परे ।"

अर्जुन ! एक क्षण के लिए अपनी आँखे बन्द करो । तुम क्या अनुभव करते हो ? पूर्ण अन्धकार, है न ! यह अन्धकार है इसे तुमने कैसे जाना ? अन्धकार को तुम देख नहीं सकते तब तुमने कैसे कहा कि वहाँ अन्धकार था ? वहां दो सत्तायें

हैं--अन्धकार और अन्धकार को देखने वाला; ठीक है न ? और वह जो अन्धकार ही हो तो अन्धकार को कौन देखता है ? नहीं; तुम तो द्रष्टा हो और इसलिए तुम अन्धकार नहीं हो, अन्धकार वह है जो देखा गया है : देखने वाले तुम हो, तुम साक्षी हो ।

अब दूसरे यथार्थ पर विचार करो ! मनुष्य प्रायः अपने को मूर्ख कह धिक्कारता है, लेकिन यदि वास्तव में वह मूर्ख या निर्बुद्धि है तो अपनी मूर्खता को कैसे पहचानता है ? यह ज्ञान उसने कब और कैसे पाया ?

अ-ज्ञान वह है जो 'दीखता' है ! ज्ञान वह है जो द्रष्टा है । तुम 'दृक्' हो जो 'अ-ज्ञान' के दृश्य को देखते हो । इसी प्रकार इन सब आठ प्रकार के उपर्युक्त वर्णनों पर एकाग्रचित्त होकर विचार करना होगा । भगवान के स्वरूप का सही ध्यान यही है ।"

अर्जुन ने पूछा, "कृष्ण ! इतना ध्यान पर्याप्त है या इसके साथ और भी कुछ कहना है ?"

"निस्सन्देह--जब तुम ध्यान का अभ्यास करो तब ध्यान रखो कि मन एक ही वस्तु पर एकाग्र रहे । उसे विभिन्न वस्तुओं का पीछा नहीं करना चाहिए । केवल परमात्मा पर प्रेम और भक्ति सहित मन को केन्द्रित करना चाहिए । प्रायः मनुष्य का प्रेम तुच्छ नाशवान वस्तुओं में होता है और वह अपने को निराशा और दुःख मे फँसा लेता है । अतः प्रेम को ऐसी वस्तुओं से हटाकर भगवान् में एकाग्र करना आवश्यक है ।

मैं तुम्हें संक्षेप में बताऊँगा कि भक्ति क्या है ? सुनो ! जिस भावनात्मक ध्येय में प्रीति हो उसमें अपनी मानसिक क्रिया का पूर्ण एकीकरण करना भक्ति है ।

यहाँ पुनः अर्जुन ने बीच में ही रोक कर पूछा, "ओह, भगवन् ! यह कैसे हो सकता है" । कृष्ण ने उत्तर दिया, "इन्द्रियों को वश में करो, मन को जितना भी हो सके मिटा दो, हृदय को शुद्ध करो, प्राणवायु को सहस्रार के उच्च्व प्रदेश में चढ़ने दो, अपने को आत्मिक सत्य में स्थिर करो और जब प्राण शरीर को छोड़ रहा हो उस क्षण प्रणव को ही अपने ध्यान का विषय बनाओ-- ऐसा करने पर मनुष्य मेरे पास आकर मुझमें मिल जाता है उसकी और मेरी मानसिक क्रिया एक रूप हो

जाती है ।"

यहाँ पाठकों को कृष्ण द्वारा अर्जुन को दिये गए उपदेश पर ध्यान देना चाहिए । भगवान ने इन्द्रियों को आधीन करने को कहा है, उन्हें नष्ट करने को नहीं कहा । आधीन करने का अर्थ है, उन्हें अपनी आज्ञा और इच्छा शक्ति के वश में रखना । नष्ट करने का अर्थ है --क्रिया का निषेध, पूर्ण विश्राम । भगवान् ने यह भी कहा कि सभी इन्द्रियों को वश में रखना है, एक या दो को नहीं । मनुष्य को अपनी सभी इन्द्रियों को वश में रखना चाहिए और जिस निमित्त उन्हें रचा गया है उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही उनका प्रयोग करना चाहिए । इन्द्रियाँ अनियंत्रित छोड़ने के लिए नहीं मिली हैं । उन्हें उनके लिए निर्धारित कार्यों में लगाओ लेकिन अपने को इनके आधीन कर नष्ट मत होने दो । उन्हें दृढ़ता से नियमित कार्यों में लगाओ । यही भगवान की इच्छा है ।

एक और बात भी है । विवेक-बुद्धि द्वारा तुम्हें स्वयं यह पता लगाना है कि तुम्हारे हृदय को क्या प्रसन्न करता है और क्या अशांति बढ़ाता है । पहले को छोड़े बिना दूसरे को अस्वीकार करो । नहीं तो पागल बन्दर की तरह तुम व्याकुल हो इधर-उधर भटकते रहोगे । आजकल अनेक व्यक्तियों के कष्टों और असंतोष का कारण क्या है ? अपनी इन्द्रियों का अनुचित उपयोग ही इसका कारण है ।

घर के किस द्वार से किन लोगों का प्रवेश उचित है इसका निर्णय कर तुम्हें सतर्क रहना है । जिन्हें एक द्वार से आना है उन्हें किसी दूसरे द्वार का उपयोग नहीं करना चाहिए । यदि उन्होंने ऐसा किया तो घर में केवल असंतोष, व्याकुलता और अव्यवस्था फैलेगी । अनुचित द्वार से अनाधिकार प्रवेश होने के बाद कुछ करने के बजाय, प्रवेश के पूर्व ही सावधान रहना बुद्धिमानी है । अनाधिकार प्रवेश को तुम पहली बार क्षमा कर सकते हो, लेकिन दुबारा ऐसे न होने देने के लिए तुम्हें पर्याप्त ध्यान रखना होगा । यह उपाय अच्छा है, लेकिन श्रेष्ठतम नहीं ।

फिर अर्जुन के मन में सन्देह उठा कि यदि इन्द्रियों को इस प्रकार नियंत्रित रखा गया तो 'ॐ' का जप कैसे होगा ? कृष्ण इसे समझ गए । उन्होंने स्वयं ही कहा-- "अर्जुन ! 'ॐ' मन में जपा जाता है, मुख या इन्द्रियों द्वारा नहीं ।" दूसरे सन्देह को मिटाने के लिए, अर्जुन ने एक और प्रश्न उठाया । 'आपने कहा, 'जपतोनास्ति पातकम्,' अर्थात् जो जप करता है उसे पाप नहीं लगता । लेकिन यदि जप करने

से ही पाप मिट जाते हैं तो मोक्ष का क्या अर्थ है ? स्पष्ट है कि जप में मोक्ष प्रदान करने की शक्ति नहीं है, और न ही जप भगवान् को साकार बना सकता है ।"

अर्जुन के इस सन्देह को सुनकर भगवान् प्रसन्न हो गए । "पार्थ ! तुम्हारा प्रश्न महत्त्वपूर्ण है । मोक्ष के लक्ष्य को अन्य उद्देश्यो से भिन्न समझना आवश्यक नहीं । यदि 'ॐ' का जप किया जाय और 'ॐ' के महत्व अर्थात् 'भगवान्' पर ध्यान लगाया जाय तो भी तुम भगवान को प्राप्त कर लोगे, अर्थात् तुम्हें मोक्ष प्राप्त होगा ।" अर्जुन ने इस विषय के बारे में आग्रहपूर्वक फिर पूछा-- "भगवन् ! क्या जप द्वारा इन दोनों फलों की प्राप्ति हो सकती है ? आपके लिए तो यह कहना सरल है, लेकिन जब हम जप और ध्यान का मार्ग अपनाते हैं तब कठिनाइयाँ प्रारम्भ हो जाती हैं ।"

कृष्ण ने कहा, "इसी बात को लक्ष्य में रख मैंने प्रारम्भ में ही अभ्यास योग की शिक्षा दी व अभ्यास का महत्व बताया । अभ्यास, निरन्तर अभ्यास से तुम्हें दोनो फल प्राप्त होंगे, पाप से मुक्ति और मोक्ष मिलेगा । कदाचित् तुम अभ्यास का महत्व नहीं समझ रहे हो । अरे ! मूढ़ अर्जुन ! क्या तुम देखते नहीं कि किस प्रकार अभ्यास द्वारा यहां पशु भी कठिन कार्य कर लेते हैं ? तुम्हारे रथ में जोते हुए इन घोड़ों को देखो, युद्ध क्षेत्र में पंक्ति में खड़े हाथियों को देखो, युद्ध में वे जितनी सहायता देते हैं, उतनी सहायता विचार शक्ति जैसे श्रेष्ठ साधन से युक्त मनुष्य भी नहीं दे सकता । सोचो यह कैसे सम्भव हुआ ? जंगल में रहने वाले हाथियों ने युद्ध की यह रचना कैसे जान ली ? या तुम मानते हो कि युद्ध क्षेत्र में लड़ना उनका स्वभाव है ? नहीं, उनकी यह कुशलता सतत अभ्यास के महत्व का प्रमाण है ।

इसी तरह मन को इन्द्रियों से हटाने का निरन्तर अभ्यास करो । इससे तुम्हारा कौशल पुष्ट होगा जिसके द्वारा तुम बन्धन से छूट जाओगे । मैं तुम्हें कहता हूँ कि जो अपने अन्तिम श्वास से पवित्र 'प्रणव' का जप करते हैं, उन्हें परमात्मा की प्राप्ति होती है ।" कृष्ण ने यह बात पुनः दृढ़ता से कहीं ।

अर्जुन ने फिर एक और प्रश्न पूछने की हिम्मत की, "भगवन् ! यह ठीक है कि जो अन्तिम श्वास से 'प्रणव' जपते हैं वे परमात्मा को पा लेते हैं लेकिन उनका क्या होता है जो ऐसा नहीं करते हैं ? निश्चित ही उनकी संख्या अधिक है । क्या उनको बन्धन से मुक्त होने का अवसर नहीं मिलता ? परमात्मा के यहां क्या कुछ

ही लोगों को आसन देकर सम्मानित किया जाता है? क्या दुखी और गरीबों के लिए वहां कोई स्थान नहीं ? मुझे बताइये वे सब कहाँ जाते हैं और उन्हें कहाँ प्रवेश मिलता है ?"

"अर्जुन! सावधानी रखो, तुम एक बहुत बड़ी भूल में पड़ रहे हो । भगवान् अशक्त और शक्तिमान या ऊँच और नीच का भेद-भाव नहीं रखते । ऐसी अवस्थायें उनकी दृष्टि को बदल नहीं सकती हैं । सभी उनकी कृपा के पात्र हैं । सभी को उनके लोक में जाने का अधिकार है । उनके द्वार सदा खुले हैं । किसी के प्रवेश को रोकने के लिए वहाँ रक्षक नहीं हैं । किसी को रोका भी नहीं जाता है । किसी को निमंत्रण भी नहीं दिया जाता है । सभी का स्वागत होता है । यदि कोई द्वार तक ही न पहुँचे तो क्या किया जाये ? जिन्हें ताप चाहिए उन्हें आग के पास जाकर बैठना चाहिए । जो दूर खड़े हैं, वह आग के चमकते प्रकाश को ही जान सकते हैं । ऐसे मनुष्य को क्या कहा जाये जो दूर खड़ा रह कर घोषणा करता है कि आग में उष्णता ही नहीं है ? वह वास्तव में भ्रान्त-चित्त है ।

जो सामीप्य चाहते हैं, वे सब भगवान् के लोक में प्रवेश माँगते हैं और जो अपने मन में निरन्तर इस इच्छा को फलीभूत करना चाहते हैं, उन सबके लिए यहाँ प्रवेश और स्थान है । सभी लोग अन्तिम क्षण में 'प्रणव' का जप नहीं कर पाते हैं, इसीलिए भगवान का सर्वदा स्मरण करना, ऐसी शक्ति है जो भगवान् को तुम्हारे योग-क्षेम का भार उठाने के लिए व तुम्हें यहां सुखी और इसके बाद भी सुखी रखने के लिए बाध्य करती है । निःसन्देह इसका बहुत समय तक अभ्यास होना चाहिए । स्थिर और दृढ़ साधना से सब कुछ मिल जाता है

सत्रहवाँ अध्याय

अनन्य भाव से जो भी कोई केवल मेरा ही स्मरण करता है, निरन्तर मेरे ध्यान में रहता है, मृत्यु क्षण पर उसकी अन्तिम श्वास, सहस्रार के मध्य से प्रस्थान करती है, यह निश्चित है । वह मुझे प्राप्त करेगा । मैं उसके उतना ही समीप हूँ, जितना कि वह मेरे समीप है । प्रिय अर्जुन ! उसे मैं कैसे भूल सकता हूँ, जो मुझे कभी नहीं भूलता ? भूलना तो मनुष्य की दुर्बलता है, यह स्वभाव परमात्मा का नहीं है ! यह तुम्हें बताये देता हूँ ! योग या तप भी आवश्यक नहीं है । ज्ञान की भी कोई आवश्यकता नहीं है । हो सकता है, अपनी निर्बलता के कारण असम्भव समझ योग, तप और ज्ञान को तुमने त्याग दिया हो, या शक्ति होने पर भी इन पर प्रभुत्व पाने का प्रयत्न न किया हो, खैर, कोई बात नहीं । मैं योग या तप नहीं माँगता । मैं तो केवल यह चाहता हूँ कि तुम अपना मन मुझमें स्थिर करो । मुझमें अनुरक्त होओ, अपने को मुझे समर्पित करो, मेरी ही शरीण लो, मैं इतना ही चाहता हूँ ।

"यदि साधक समर्पण का कम से कम इतना कार्य भी नहीं कर सकता तो मुझे उसकी साधना की क्षमता पर विस्मय ही होगा । यदि तुम तर्क करो कि तुममें मानसिक शक्ति नहीं है, तो मेरा यह प्रश्न है कि जिसमें तुम अब संलग्न हो उन खोखले आदर्शों, झूठे कौटुम्बिक सुख स्वप्न, सम्पत्ति और कीर्ति के लिए तुममें शक्ति कहाँ से आई ? क्या इस शक्ति को तुम परमात्मा की ओर नहीं मोड़ सकते ? विषैले, बाह्य वस्तु विषयक सुखों के लिए, मनुष्य अपना सर्वस्व सहज में ही न्यौछावर कर देता है, लेकिन जब उसे उसके मन, शब्द और कर्म परमात्मा को समर्पित करने के लिए पुकारा जाता है, तो वह इस प्रकार घबराता है और विरोध करता है मानो उस पर पहाड़ टूट गिरा है ! क्या वह समझता है कि मुक्ति पाना इतना ही सस्ता और सरल है जितना कि सब्जी-बाजार से हरी भाजी लाना ? बन्धन से वह इतनी सरलता से छूटने की आकांक्षा रखता है किन्तु परमात्मा के लिए वह इतना उत्कंठित नहीं है, और फिर भी आध्यात्मिक क्षेत्र में बहुत पाने की आशा रखता है । ऐसा व्यक्ति तप से अधिक तमस् में डूबा रहता है और उसे ऐसे फलों की आशा रहती है जो केवल तप द्वारा ही प्राप्त हो सकते हैं ।

"जिन्हें ऐसी फल प्राप्ति की सच्ची लगन है, उन्हें प्रत्येक विघ्न, प्रत्येक लालच

और संदेह को पार कर हटाना होगा और मन को परमात्मा में लीन करना होगा । ऐसा करने से परमात्मा दूर नहीं रह सकते ; वह साधक को एकात्मता की, 'अहम् ब्रह्माम्मि' की अवस्था ('मैं तू है, तू मैं हूँ, हम एक हैं) प्रदान करेंगे और साधक निरन्तर इस एकात्मता के ध्यान में डूबा रहेगा । इसे अनन्य भाव कहा गया है ।"

फिर अर्जुन ने पूछा, "आप कहते हैं कि यह अनन्य भाव, यह अनन्य भक्ति, बड़ी सुगम है और इसके लिए अधिक कष्ट उठाने की आवश्यकता नहीं है । आप यह भी कहते हैं कि जिसने इस अवस्था को पा लिया है उसे परमात्मा भी तुरन्त मिल जाते हैं । लेकिन परमात्मा को प्राप्त करने से मुख्य लाभ क्या है ?"

यह सुनकर कृष्ण मुस्कराये और बोले, "अर्जुन ! परमात्मा की प्राप्ति से अधिक और लाभ क्या हो सकता है ? इस पवित्र विजय से नाशवान मानव एक महात्मा बन जाता है । फिर भी तुम शायद दूसरा प्रश्न यह करोगे कि महात्मा बनने से क्या लाभ ? सुनो ! महात्मा साधारण व्यक्ति से श्रेष्ठ होता है । एक साधारण व्यक्ति शरीर और जीव में ही स्थित रहता है । वह अपने को शरीर एवं श्वास व्यष्टि, समुद्र की एक 'तरंग' वत जानता है । इसीलिए सुख और दुःख उसे इधर से उधर उछालते रहते हैं । प्रत्येक अनुभव के साथ वह ऊँचा उठता है या नीचे गिरता है । शान्ति और तूफान की झपेटों के मध्य अनेकों धक्के खाकर वह लड़खड़ाता रहता है ।

महात्मा द्वैत के सभी अनुभवों से मुक्त होता है । वह इनसे ऊँचा और परे होता है । उसने विशिष्ट वस्तु की एकात्मता से अपने को मुक्त कर लिया है । जो सर्वव्यापी, नित्य और अनन्त है उसमें वह विलीन हो गया है । जीव भाव में नहीं, वह अब ब्रह्म भाव को प्राप्त कर चुका है । वह जानता है कि आत्मा एक सीमित वस्तु नहीं है । वह सब सीमाओं के परे और सर्वत्र व्याप्त है और ऐसा ही अनुभव महात्मा करता है । तमस् और रजस् के दोष से भी वह मुक्त है । न वह उदासीन है न इच्छाओं का दास है; मोह और घृणा से अप्रभावित है । उसकी चेतना शुद्ध है । अनेकों लोग आजकल अपने को शुद्ध हृदय कहते हैं, लेकिन यथार्थ में उनकी चित्तवृत्ति गंदी होती है । शुद्ध हृदय व्यक्ति के लिए दुबारा न जन्म है न मृत्यु है, पृथ्वी पर वापस आने के लिए वे बाध्य नहीं हैं । ऐसी पवित्रता की प्राप्ति के बिना, तुम चाहे कितने ही पुण्य कार्य करो, कितनी ही उच्च आध्यात्मिक अवस्था प्राप्त

करो या कितना ही उच्च लोक तुम्हें मिले, जन्म-मरण के चक्र से तुम छूट नहीं सकते । केवल ब्रह्म भाव में रहने वाले ही मुझे, सनातन ब्रह्म को, प्राप्त कर मुझ में लीन होकर बंधन से मुक्त हो सकते हैं"।

यह सुनकर अर्जुन ने चिन्तित होकर दूसरा संदेह व्यक्त किया, "यदि ऐसा ही है तो उपनिषदों में यह क्यों सूचित किया गया है कि जो ब्रह्मलोक को प्राप्त कर लेते हैं उन्हें फिर से जन्म लेने की आवश्यकता नहीं है । कृपया इसे स्पष्ट कीजिए । यथार्थ में वे कौन लोग हैं जिन्हें जन्म और मरण के चक्र से मुक्ति मिल जाती है ?"

"अर्जुन ! उपनिषदों में दो प्रकार की मुक्ति बताई गई है : सद्यः मुक्ति और कर्म-मुक्ति । सद्यः मुक्ति को कैवल्य मुक्ति भी कहा जाता है । इसे प्राप्त करने के लिए किसी भी स्वर्ग की आकांक्षा करने की आवश्यकता नहीं है । सद्यः मुक्ति क्रमानुसार धीरे-धीरे नहीं, तुरन्त मिल जाती है । यह मुक्ति हमेशा के लिए है । अन्य सब प्रकार की मुक्ति व्यक्ति के संचित पुण्यो के प्रभाव की समाप्ति पर बदल जाती है और मुक्तात्मा को स्वर्ग छोड़, पृथ्वी पर पुनः जन्म लेना पड़ता है । ऐसी आत्मायें, 'परमात्मा में विलय होना क्या है', नहीं जानतीं । जिनको कैवल्य मुक्ति मिल जाती है केवल उनका ही सनातन और सर्वव्यापक ब्रह्म में लय होकर एकत्व हो जाता है ।"

अर्जुन ने बीच में ही बात रोककर प्रश्न किया, "इसका अर्थ यही हुआ कि जिन आत्माओं को कैवल्य मिल जाता है वे नष्ट हो जाती हैं ? या फिर लय और नाश के अर्थ मे कोई अन्तर है ?"

"नहीं पार्थ ! लय का अर्थ नाश नहीं होता । आत्मा का लय होने पर वह केवल अदृश्य हो जाती है ।"

"वस्तु का नाश होने पर यही तो होता है कि वह अदृश्य हो जाती है । हम पुन उसे देख नहीं पाते । लेकिन वस्तु के ऑख से ओझल हो जाने को तुम 'नष्ट' हो गई ऐसा कैसे कह सकते हो ? पानी में डाली हुई चीनी या नमक की डली अदृश्य हो जाती है; तुम उसे देख नहीं सकते हो । इसीलिए क्या यह कह सकोगे कि वह नष्ट हो गयी ? या फिर यह कहोगे कि उसका लय हो गया ? चखने पर मालूम हो जायेगा कि वह वहीं है । उसका स्वरूप बदल गया है, लेकिन गुणरूप में वह

वहाँ मौजूद है । इसी प्रकार जीव का ब्रह्म में लय होता है । जीव नष्ट बिल्कुल नहीं होता है जीव का लय जब इस प्रकार नहीं हो सकता तब अधिक से अधिक उसका परिणाम यह होता है कि वह स्वर्ग और पृथ्वी के बीच घूमता रहता है । कुछ समय के लिए वह स्वर्ग में रहने की योग्यता प्राप्त करता है और फिर पृथ्वी पर आकर मुक्ति के लिए अगला प्रयत्न करता है ।"

अर्जुन का मन अब भी संदेह से पीड़ित था । उसने पूछा, "आप कहते हैं कि कोई भी स्वर्ग यहाँ तक कि सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मलोक भी मनुष्य को जन्म और मरण के चक्र से नहीं बचा सकता; तब मुक्ति का सीधा राजमार्ग कौन-सा है ? आपके कथन का तात्पर्य क्या यह है कि जो स्वर्ग की आकांक्षा करते हैं, उनको केवल उतने से ही संतुष्ट रहना पड़ता है, और उससे अधिक उन्हें कुछ नहीं मिलता ?"

कृष्ण ने उत्तर दिया, "पार्थ ! इन सब स्वर्गों से परे एक ऐसी अवस्था है जो नित्य स्थिर, अपरिवर्तनशील है । इन मार्गों या इस परम सुख की व्यवस्था से अनभिज्ञ मनुष्य ऐसे मार्ग ले लेता है जो कि टेढ़े हैं या केवल शारीरिक सुख की ओर ले जाते हैं । ऐसा व्यक्ति सही और गलत मार्ग के अन्तर को पहचानने की बुद्धि नहीं रखता "।

"मैं तुम्हें यहाँ उन चार मार्गों के बारे में बताता हूँ जिनका आजकल मनुष्य द्वारा अनुसरण होता है : (१) कर्म-अतीत, कर्म से परे, उनसे अप्रभावित ; (२) निष्काम-कर्म, फल की इच्छा रहित कर्म; (३) सकाम-कर्म, कर्म जो फल की इच्छा से उस फल द्वारा सुख भोगने की इच्छा से किए गए हों; (४) कर्म-भ्रष्ट, वे कर्म जो किसी मर्यादा या बंधन को न मानकर किए गए हों ।

कर्म-अतीत व्यक्ति जीवन मुक्त है; ज्ञान की अग्नि द्वारा उसके कर्म जल चुके हैं, उसने कर्म करने की अपनी प्रवृत्तियों को ज्ञान-अग्नि द्वारा जला दिया है । विधि और निषेधों की उसे आवश्यकता नहीं; दान, धर्म, तपस्या (आत्मसंयम) जैसी साधना भी उसके लिए आवश्यक नहीं है । उसके कर्म, विचार और शब्द सभी दिव्य, शुद्ध, धर्मानुसार व मानव मात्र के लिए हितकारी होंगे । वह जहाँ जाएगा वही जगह उसके चरण पड़ने से पवित्र हो जायेगी । इसके मुँह से जो शब्द निकलेंगे वे भगवान् के वचन ही होंगे, मृत्योपरान्त उसे किसी स्वर्ग में भी जाने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि उसके शरीर रूपी वस्त्र के उतरते ही उसका तुरन्त ब्रह्म

में लय हो जाता है । कैवल्य मुक्ति, ब्रह्म-प्राप्ति या सद्यः मुक्ति जिनको मिली है ऐसे जीवों का मैंने यहाँ वर्णन किया है ।

आगे, दूसरा समुदाय है निष्काम कर्म करने वालों का । इन्हें मुमुक्षु कहते हैं जो कि मुक्ति-मार्ग पर चलकर, मुक्ति पाने की आकांक्षा रखते हैं । उनका प्रत्येक कार्य परमात्मा की ओर बढ़ने के लिए ही होता है । इसलिए वे कोई अयोग्य कार्य नहीं कर सकते । और न वे कर्म-फल-प्राप्ति चाहते हैं । फल देना या न देना वह परमात्मा की इच्छा पर छोड़ देते हैं । उनके कार्य सांसारिक या स्वर्ग के सुख पाने की इच्छा से प्रेरित होकर नहीं किए जाते । बाह्य संसार के बंधन से मुक्त होना मात्र ही उनका लक्ष्य होता है । उनकी निष्ठा और अभ्यास की दृढ़ता के आधार पर उन्हें भगवान् का अनुग्रह प्राप्त होता है ।

तीसरा समुदाय उनका है जो सकाम कर्म में विश्वास करते हैं, अपने सब कार्य फल प्राप्ति की इच्छा से ही करते हैं । चूंकि उनकी दृष्टि कार्य के फलसिद्धि पर ही रहती है, वे ऐसे कार्य ही करते हैं जो शास्त्रों द्वारा विहित हैं; वे कोई भी अधार्मिक या निषिद्ध कार्य नहीं करते; उनका प्रत्येक कार्य श्रेष्ठ लाभ, सुख और स्वर्ग की प्राप्ति के लक्ष्य से किया जाता है । ऐसे लोग मृत्योपरान्त अपने इच्छित दिव्य लोकों में जाते हैं जिनके लिए उन्होंने जीवन में प्रयत्न किया, और फिर उन्हें अपने पुण्यों के अनुसार वहाँ समय बिताकर पृथ्वी पर वापस आना पड़ता है ।

चौथा समुदाय आचरण के किसी भी नियम बंधन को नहीं मानता । वे किसी आदेश का पालन नहीं करते; सदाचार और पाप, उचित और अनुचित, योग्य और अयोग्य में वे कोई अन्तर नहीं समझते । न उन्हें नर्क से घृणा है, न स्वर्ग का विचार है । अपनी दुष्ट प्रवृत्तियों से भी वे भय नहीं खाते, उनमें परमात्मा के प्रति श्रद्धा तथा शास्त्रों के प्रति आदर नहीं होता और उनकी प्रवृत्ति धार्मिक नहीं होती । उनका उपयुक्त वर्णन तो यही है कि मनुष्य रूप में वे पशु हैं । अभाग्यवश अधिकतर व्यक्ति इस समुदाय के ही हैं । वे तुच्छ इच्छा, आनन्द, क्षणिक हर्ष और शीघ्र समाप्त होने वाले सुख के लिए प्रयत्नशील रहते हैं । इन्हें मनुष्य रूप में बन्दर कहना भी एक बड़ी भूल होगी क्योंकि बन्दर तो एक पेड़ से दूसरे पेड़ पर या एक डाली से दूसरी डाली पर ही कूदता है और दूसरी डाली या पेड़ पर कूदने से पूर्व वह अपने को पहली डाली या पेड़ से मुक्त कर लेता है । लेकिन मनुष्य एक कीड़े से

अधिक समानता रखता है, क्योंकि कीड़ा अपने को पिछले पत्ते से पूर्णतया छुड़ाये बिना नये पत्ते पर पैर जमा लेता है । इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्य इस जन्म के कर्मो द्वारा अपने अगले जन्म को, कि वह कहाँ और कैसे रहेगा, संसार छोड़ने से पहले ही निश्चित कर लेता है । नई जगह उसके लिए तैयार है, क्योंकि एक कीड़े की तरह उसका अगला हिस्सा वहाँ पहुँच चुका है । वहाँ जम जाने के पश्चात ही वह अपनी पकड़ इस संसार से छोड़ता है । इस समुदाय के लोग जन्म और मरण के चक्र में घूमते रहते हैं । अर्जुन ! जन्म लेने और मृत्यु पाने के लिए शुभ क्षणों का होना आवश्यक है जिससे ज्ञानपूर्ण जीवन और उत्तम अन्त प्राप्त हो सके । उदाहरण के लिए योगी अपने प्राण शुभ घड़ी में ही त्यागते हैं, किसी और समय नहीं । इसलिए लोग कहा करते हैं कि, "मृत्यु पुण्यात्मा लोगों की साक्षी होती है ।" देह त्यागने के कार्य के लिए भी शुभ घड़ी का होना आवश्यक है ।

अर्जुन ने प्रश्न किया, "कृष्ण ! जन्म-मरण के चक्र से मुक्त होने के लिए मृत्यु कब होनी चाहिए यह मुझे बताइये और यह भी बताइये कि मृत्यु के लिए कौन सा क्षण अशुभ है ?" उत्तर में कृष्ण बोले, "पार्थ ! तुम्हारा प्रश्न सामयिक और आवश्यक है । कभी-कभी मुझे तुम्हारी बुद्धिमानी पर आश्चर्य होता है और मैं आनन्द से भर जाता हूँ और कभी-कभी, मुझे तुम्हारा अज्ञान देख हँसी आती है । तुम्हारा अहं एवं मोह ही तुम्हारी इस स्थिति का कारण है । खैर, अब तुम्हारे प्रश्न पर आयें ।

जो योगी निष्काम-कर्म का अभ्यास करते हैं वह तेजस् में, दिन में, प्रकाश में, मास के शुक्ल पक्ष में 'उत्तरायण की छः महीने की अवधि में' प्राण त्यागते हैं । उनकी प्रथम अवस्था अग्नि की होती है । इसे देवयान मार्ग कहा जाता है या फिर अग्नि को वेदों में अर्चि कहे जाने से इसे अर्चिरादि मार्ग भी कहा जाता है । ऐसे योगी प्रकाश मार्ग से उत्पन्न होकर, प्रकाश मार्ग द्वारा जाकर, प्रकाश में ही मिल जाते हैं । उन्हें ब्रह्म की प्राप्ति होती है और फिर से उनका जन्म नहीं होता ।

सकाम-कर्म करने वाले योगी रात में, धूम्र में यानि मास के कृष्ण पक्ष में, दक्षिणायन की छः महीने की अवधि में प्राण तजते हैं । वे धूम्रादि-मार्ग से निकलकर स्वर्ग को जाते हैं और जिन सुखों के लिए उन्होने आकाँक्षा की थी और प्रयत्न किया था उन सुखों को प्राप्त करते हैं । जब उनके संचित-पुण्य समाप्त हो जाते हैं तब

वे फिर से जन्म लेते हैं ।

इन दोनों प्रकार के लोगों को योगी कहते हैं । इनका अस्तित्व तब तक रहेगा जब तक आकांक्षी और सक्रिय प्रगतिशील व्यक्ति संसार में मौजूद हैं ।

यहाँ एक उचित संदेह उठ सकता है कि महीने का शुक्ल पक्ष ही शुभ क्यों होता है, कृष्ण पक्ष क्यों नहीं ? फिर उनका क्या होता है जो न तो शुक्ल या कृष्ण पक्ष में, न दिन या रात में मृत्यु पाते हैं ? यह सच्चा संदेह है और प्रत्येक को इसका उत्तर जानने का अधिकार है ।

प्रथम तुम्हें यह जाननी चाहिए कि शुक्ल पक्ष का क्या अर्थ है । यह वह पक्ष है जब चन्द्रमा का प्रकाश प्रति दिन बढ़ता है । किन्तु चन्द्रमा के प्रकाश का मनुष्य से और उसकी मृत्यु से क्या सम्बन्ध ? चन्द्रमा मनुष्य के मन का प्रतिरूप है । "चन्द्रमा मनसो जातः" मानस की (मन की) उत्पत्ति चन्द्र से हुई । इसलिए चन्द्रमा का शुक्ल पक्ष मन की आध्यात्मिक उन्नति, दैविक अनुशासन के आधीन है यह सूचित करता है । पूर्ण चन्द्र उस प्राप्ति की पूर्णता का सूचक है एवं शुक्ल पक्ष का समय आध्यात्मिक उन्नति प्राप्त करने का सूचक है । शरीर के लिए दृश्यमान चन्द्रमा एवं मन के लिए प्रतीकात्मक अधिष्ठाता चन्द्र-देवता ! अपनी आत्मिक दिव्यता के ज्ञान वृद्धि के कारण, मानसिक तेजस्विता की वृद्धि होने का ही अर्थ 'शुक्ल पक्ष' है ।

और उत्तरायण क्या है ? इस संदेह को भी दूर करो । उपासना प्रत्येक शास्त्रोक्त विधि के अर्थ को समझकर और साधना का अभ्यास उसके प्रत्येक क्रम के उद्देश्य को समझकर करने से हृदय प्रभावी रूप से और हर प्रकार से शुद्ध होता है और संदेह की जंजीरें ढीली पड़ जाती हैं ।

उत्तरायण वह समय है जब बादल का कोई चिन्ह नहीं होता । जब विशाल सूर्य को कुहरा धूमिल न कर रहा हो और सूर्य और पूर्ण प्रतिभा में चमक रहा हो, इसका ऊपरी अर्थ यही है । लेकिन इसका एक सूक्ष्म अर्थ भी है । हृदय आंतरिक आकाश है । वहां जो सूर्य चमकता है वही बुद्धि है । जब अज्ञान के बादल, अहकार का कुहरा, मोह का धुँआ उस आंतरिक आकाश में मँडराने लगते हैं, तब सूर्य रूपी बुद्धि छिप जाती है, और सब वस्तुएँ धुँधली दीखने लगती हैं । हृदय के लिए उत्तरायण तब होता है जब आंतरिक आकाश से सब भ्रांति हट जाती है

और वह पूर्णतया स्वच्छ हो जाता है । सूर्य तभी अपने पूर्ण तेज में चमकता है । 'ज्ञान-भास्कर' इस कथन को तुमने सुना ही होगा । सूर्य की हमेशा ज्ञान व बुद्धि से समता की जाती है । जब कोई व्यक्ति अपने शुद्ध हृदय में ज्ञान-रूपी सूर्य के इन तेजस्वी साधनों के साथ प्राण त्यागता है तब उसका पुनः जन्म नहीं होता, यह निश्चित है । और जैसा कि पहले बताया गया है, वह अग्नि मार्ग, अचिरादि मार्ग से प्रयाण कर ब्रह्म में मिल जाता है ।

जो वर्ष के दूसरे अर्धभाग में, यानि दक्षिणायन में मृत्यु प्राप्त करते हैं, उनका प्रारम्भ इससे विपरीत होता है, क्योंकि उस समय उनका हृदय धुँए, कुहरे और बादलों से घिरा होता है । सूर्य छिपा होता है अर्थात् परमात्मा के तेज की चमक छिपी होती है । मास के कृष्ण पक्ष में चन्द्रमा का क्षीण होना परमात्मा के प्रति विचारों की क्षीणता का प्रतीक है । नये चन्द्र की रात जिस प्रकार पूर्ण अन्धकार से घिर कर, पराजित हो जाती है उसी प्रकार अज्ञान का गहरा धुँआ मन पर छा जाता है । कृष्ण पक्ष यही अर्थ प्रकट करता है । जो ऐसी अशुभ घड़ी में प्राण त्यागते हैं, उनका परिणाम भी अशुभ होता है ।

अठारहवाँ अध्याय

उत्तरायण मार्ग ज्ञान के पवित्र तेज द्वारा आलोकित होने के कारण शुक्ल मार्ग के नाम से सम्मानित किया गया है । दक्षिणायन मार्ग अन्धकार, तमस् और अज्ञान से परिपूर्ण होने से उसे कृष्ण मार्ग कहा जाता है । जो अपनी देह उत्तरायण पक्ष में त्यागता है वह शुक्ल मार्ग द्वारा जाता है और मोक्ष की अवस्था प्राप्त कर लेता है । यह अवस्था भ्रम रहित, ब्रह्मानंद का स्रोत और वासस्थान है, जहां एक बार पहुँच कर उसे, फिर से नाम और स्वरूप वाली देहधारी प्राणियों की रंगभूमि में नहीं आना पड़ता । जो दक्षिणायन पक्ष में अपनी देह छोड़ते हैं वे कृष्ण पथ द्वारा जाते

हैं और उन्हें फिर से जन्म-मरण के प्रभुत्व में रहने वाले इस देह रूपी आवरण का भार वहन करना पड़ता है ।

उत्तरायण, समय की अवधि मात्र न होकर मन की स्थिति है । जो अपनी देह आत्मज्ञान के तेज के साथ छोड़ते हैं, वे उत्तरायण मार्ग से जाते हैं और जो अपने आत्मिक सत्य से अनभिज्ञ, अज्ञान अवस्था में मृत्यु को प्राप्त होते हैं वे पित्रायण अथवा दक्षिणायण या कृष्ण पथ से यात्रा करते हैं ।

गुणों में, सत्वगुण शुद्ध और तेजस्वी है; तमोगुण अंधकार की तरह काला है, इसलिये ये दोनों श्वेत और काले इन भिन्न रंगों के नाम से पहचाने जाते हैं । इड़ा, पिंगला नामक दो सूक्ष्म नाड़ियां हैं; इड़ा बाईं ओर और पिंगला, सुषुम्ना के दाहिनी ओर स्थित है । इड़ा नाड़ी मार्ग को चन्द्र-मार्ग कहते हैं और पिंगला नाड़ी मार्ग को सूर्य-मार्ग कहते हैं । योगी सूर्य-मार्ग से आगे बढ़ते हैं और अन्य सब चन्द्र-मार्ग से । इस रहस्य पर भी ध्यान नहीं दिया जाता है ।

प्रत्येक प्राणी जिसने जन्म लिया है, उसका मरण भी है; जहाँ संयोग है वहाँ वियोग भी है; जिसका निर्माण होता है उसका ध्वंस भी होता ही है । यह प्रकृति का नियम है कि जन्म का अन्त मृत्यु है और मृत्यु से जन्म होता है । सर्वव्यापी ब्रह्म की प्राप्ति ही ऐसी अवस्था है जहाँ से न वापस आना होता है न कहीं अन्य जाना क्योंकि ब्रह्म सर्वत्र सर्वव्यापी है । जहाँ ब्रह्म न हो ऐसी कोई जगह नहीं, इसलिए उसमें एकरूप होने वाले के लिए अन्य कहीं 'आने-जाने' का स्थान नहीं होता । वह स्वयं सर्वव्यापी ब्रह्म में तदाकार हो चुका है ।

यह अवस्था सबको प्राप्त हो सकती है, सब इसके अधिकारी हैं, इसमें कोई संदेह नहीं । इसकी प्राप्ति के लिए कोई विशिष्ट प्रयत्न, विशिष्ट सौभाग्य, कोई असाधारण कार्य करने की आवश्यकता नहीं है; मन और ध्यान स्थिरतापूर्वक निरन्तर भगवान् में लीन रहे इतना ही पर्याप्त है । इस प्रकार मन से चिपका हुआ भ्रम हट जाता है और मन की शुद्धि हो जाती है । यही मोक्ष है क्योंकि मोक्ष मोह-क्षय ही है, अन्य कुछ नहीं । ऐसी मोह-क्षय की स्थिति जिसने प्राप्त कर ली है, उसकी मृत्यु किसी भी प्रकार से हो ऐसा व्यक्ति ब्रह्मत्व प्राप्त करता है और ऐसे ही व्यक्ति को 'ज्ञानी' कहा जाता है ।

इस पर अर्जुन ने एक प्रश्न उठाया, "कृष्ण ! तुम जिसे 'ज्ञान' कहते हो इसका

अर्थ मेरी समझ में नहीं आता । क्या गुरु द्वारा दिया गया उपदेश ज्ञान है ? या शास्त्रों द्वारा ज्ञान की प्राप्ति होती है ? या स्वानुभव से सम्पन्न व्यक्तियों द्वारा प्रकट किया गया अनुभव ज्ञान कहा जाता है ? इनमें किस प्रकार के ज्ञान द्वारा व्यक्ति बंधन मुक्त हो जाता है ?"

कृष्ण ने उत्तर दिया, "अभी तुमने ज्ञान के जितने प्रकारों का वर्णन किया है वे सब व्यक्तिगत आध्यात्मिक उन्नति की किसी न किसी स्थिति के लिए उपयोगी रहते हैं लेकिन जन्म-मरण के चक्र से तुम्हें छुड़ाने वाला ज्ञान इनमें से कोई नहीं है । जो तुम्हें बंधन मुक्त कर सकता है वह केवल अनुभव-ज्ञान है । यही तुम्हें मुक्त होने में सहायक हो सकता है । इस कार्य में गुरु से कुछ सहायता मिल सकती है । लेकिन वह तुम्हें तुम्हारी वास्तविकता नहीं दिखा सकता । उसे तो तुम स्वय ही देख सकते हो । इसके अलावा तुम्हें ईर्ष्या जैसे दोषों से भी मुक्त होना होगा । तभी तुम पूर्ण ज्ञानी कहलाओगे । जिसकी इस ज्ञान में श्रद्धा है, जो इसे प्राप्त करने का उद्यम करता है, इसे पाने की जिसे तीव्र उत्कंठा है, ऐसा ही व्यक्ति मुझे प्राप्त कर सकता है ।

"उसे ईर्ष्या से मुक्त होना ही होगा, इसके अलावा उद्योगयुक्त और श्रद्धामय होना होगा । मनुष्य के लिए उद्योग उसके छोटे से छोटे कार्यों में भी आवश्यक है । मनुष्य ही नहीं, पक्षी, पशु, कीड़े मकोड़े सभी को प्रयत्न या उद्योग से ही सफलता प्राप्त होती है । यदि तुम्हारे कार्यों में उद्योग का उत्साह और श्रद्धा नहीं है तो तुम्हें फल की प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती ।

"अर्जुन ! मैं साक्षी हूँ, मेरे द्वारा ही यह प्रकृति, यह पंचतत्वों का पुंज, जिसे प्रपंच कहते हैं, बना है । सब चर और अचर वस्तुओं का निर्माता भी मैं ही हूँ । मेरे ही कारण मेरे ही द्वारा यह प्रपंच भिन्न प्रकार से कार्यरत रहता है । जो मंद-बुद्धि मेरे परम तत्व को नहीं समझते और यह भी नहीं जानते कि यह सब तत्व मेरे आधीन हैं और वे सब मेरी ही इच्छा का पालन करते हैं, वे ही मुझे एक साधारण व्यक्ति के रूप में देखते हैं । कुछ श्रेष्ठ मनुष्य श्रद्धापूर्वक मेरे ब्रह्मरूप का ध्यान करते हैं; अन्य लोग भिन्न नामों, भिन्न रूपों में मेरी उपासना करते हैं; कुछ अन्य मेरी ज्ञानयज्ञ और आत्मयज्ञ द्वारा उपासना करते हैं ।

"किसी भी नाम या किसी भी रूप में मेरी उपासना की जाये वह सब मुझ ही

को प्राप्त होती है क्योंकि सभी का लक्ष्य केवल मैं ही हूँ, अन्य और कुछ नहीं । अनेक नामों और स्वरूपों द्वारा मैं ही स्वयं आधारित होता हूँ । इतना ही नहीं, सब कार्यों का फल, फल देने वाला, आधार, प्रेरक, सब का संचालन करने वाला भी मैं ही हूँ । बार-बार क्या दोहराऊँ-- मैं ही प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक जीव की उत्पत्ति, स्थिति और लय की कारण शक्ति हूँ । मैं अजन्मा, अविनाशी आदि कारण हूँ ।

"मुझे, आदि कारण को प्राप्त करो; यही मोक्ष है । जिसने ऐसा मोक्ष पा लिया है वह जीवन-मुक्त (जीवन काल में ही मुक्त) है । इसलिए, अर्जुन ! यदि कोई मोक्ष प्राप्ति की, जीवन-मुक्त होने की उत्कंठा रखता है तो उसे कुछ न कुछ सुगम अनुशासन को अपनाना होगा । उसे शरीर के मोह को जड़ से पूर्णतया उखाड़ देना होगा ।

यह सुनकर अर्जुन ने बीच में ही प्रश्न किया, "कृष्ण ! पूर्ण विरक्ति, पूर्ण मोहनाश की इस साधना को आप क्या सुगम अनुशासन कहते हैं ? क्या इसे आचरण में उतारना इतना सुगम है ? सिद्ध योगी भी जब इसे कठिन मानते हैं तो आप इतनी वाक्-पटुता से इसे मुझ जैसे व्यक्ति के आचरण में उतारने योग्य कैसे बता सकते हैं ? इसे सुगम बताकर आप इसकी स्तुति करते हैं, लेकिन यह तो एक महादुष्कर कार्य है । मुझे लगता है कि आप मेरी परीक्षा लेने के लिए ही ऐसा अनुरोध कर रहे हैं । क्या मैं कभी भी ऐसी स्थिति के योग्य हो सकता हूँ ? क्या कभी मुझ जैसे को मुक्ति या मोक्ष मिल सकता है ? मैं ऐसी आशा कभी कर ही नहीं सकता", इतना कह अर्जुन हताश होकर बैठ गये ।

कृष्ण देख रहे थे कि अर्जुन की हिम्मत धीरे-धीरे टूटती जा रही है, उन्होंने दुबारा विश्वास दिलाने के लिए अर्जुन की पीठ थपथपाई और बोले, "अर्जुन ! इतनी छोटी-सी बात से डर कर निराश होने की कोई आवश्यकता नहीं है ; ठीक है कि इस बात को सुनते ही कोई विश्वास नहीं करेगा । इसकी गहराई में विवेक बुद्धि की सहायता से ही उतरना चाहिए, तभी पता चलेगा कि इस अनुशासन में रहना उतना विकट नहीं जितना कि सोचा जाता है । पूर्ण-विरक्ति पाने के लिए जटा बढ़ाना, भगवा पहनना या शरीर को कष्ट देकर कंकाल बना लेने की भी आवश्यकता नहीं है । अपने सब कार्य भगवान को समर्पित कर, बिना किसी फल प्राप्ति की इच्छा से कार्य करना ही तुम्हारे लिए पर्याप्त है मुक्ति का यही रहस्य है ।

"इस दृष्टिकोण से सभी कार्य सम्पन्न करना कठिन नहीं है । केवल दृढ़ निष्ठा और उद्यम का होना आवश्यक है । बल्कि इनका तो प्रत्येक कार्य में होना आवश्यक है । इससे तुम समझ लोगे कि आध्यात्मिक कार्यों के लिए दृढ़ निष्ठा और उद्यम दोनों अनिवार्य ही हैं ।

"मेरे भक्तों में से जो भी कोई, अनन्य भाव से अपने सब कार्य मुझे समर्पित करता है, जो मेरा ही ध्यान करता है, मेरी ही सेवा, मेरी ही आराधना, मेरा ही स्मरण करता है वह यह जान ले कि मैं सर्वदा उसके साथ रहता हूँ और इस लोक और परलोक की उसकी समस्त इच्छाओं की पूर्ति करता हूँ । मैं उसके योगक्षेम का स्वय उत्तरदायित्व लेता हूँ । तुम मेरी बात को सुन रहे हो ?" यह प्रकट कर कृष्ण ने अर्जुन के निराश हृदय भरने हेतु दुबारा पीठ थपथपाई ।

भगवान् के इस कथन ने कि भक्त के योगक्षेम का उत्तरदायित्व उन पर है, अनेक प्रकार के भ्रम उत्पन्न किये हैं । अन्य लोगों का तो कहना ही क्या पंडित तक इसका सच्चा अर्थ नहीं समझ सके हैं । टीकाकार भी इस घोषण का प्रचार विविध रूप में करते हैं । भगवान का यह कथन अत्यन्त ही पवित्र है । यह गीतारूपी शरीर की नाभि के समान है । विष्णु की नाभि ब्रह्मा का जन्म स्थान था । यह कथन भी ब्रह्मज्ञान पिपासुओं के लिए उस नाभि या निवास स्थान के समान है । इस को आचरण में उतारने वाले व्यक्ति को सम्पूर्ण गीता समझ में आ जाती हैं । इस श्लोक के बारे में अनेकों रोचक कहानियाँ प्रचलित हैं । मैं एक उदाहरण देता हूँ । एक विद्वान पंडित, किसी प्रतापी महाराज के सामने गीता पर प्रवचन कर रहा था । एक दिन इस श्लोक की बारी आई --

अनन्याश्चिंतयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ।।

बड़े उत्साह से पंडित श्लोक के विविध भावों को समझा रहा था, लेकिन महाराज ने नकारात्मक ढंग से सिर हिलाया और कहा, "यह अर्थ 'गलत' है" । वह पंडित द्वारा दी गई प्रत्येक व्याख्या की शुद्धता पर तर्क करने लगा । बिचारे इस पंडित को अनेकों महाराजाओं की सभा में विशिष्ट स्थिति मिली थी और उन्होंने उसे वैभवपूर्ण पदवियों द्वारा सम्मानित भी किया था । लेकिन जब उस महाराजा ने भरी सभा में उसके श्लोक की व्याख्या को 'गलत' कह निंदा की तब वह इस

अपमान से तिलमिला उठा । फिर भी उसने हिम्मत बटोरी और अपना कार्य फिर से शुरू किया, अपनी पूर्ण विद्वत्ता के साथ 'योग' और 'क्षेम' शब्दों के विभिन्न भावार्थों पर बढ़िया-सा प्रवचन देने लगा । महाराजा को यह भी सही नहीं जँचा । उनसे आज्ञा दी : "इस श्लोक के अर्थ का सही पता लगा कर, इसे ठीक से समझने के पश्चात् ही कल फिर मेरे पास आना ।" इतना कह महाराजा अपने सिंहासन से उठकर अन्तःपुर में चला गया ।

पंडित में रही सही हिम्मत भी गायब हो गई । इस प्रकार अपमानित होने से वह चिंतित और व्याकुल हो गया । लड़खड़ाते हुए किसी तरह घर पहुँचा और गीता की पुस्तक एक ओर रखकर पलंग पर गिर पड़ा ।

पंडित की स्त्री को इससे बहुत आश्चर्य हुआ और वह बोली. "आज राजमहल से आप इतने दुखी होकर क्यों आये हैं, मुझे बताइये ? क्या बात हो गई ? चिंतातुर होकर उसने एक के बाद एक प्रश्नों की झड़ी बाँध दी, जिससे पंडित को अपनी बीती सब बतानी पड़ी, कि उसे कितना अपमानित होना पड़ा और महाराजा ने कैसी अपमानपूर्ण आज्ञा देकर उसे घर भेजा, इत्यादि । स्त्री ने शान्ति से सब बात सुनी और उस घटना पर गहरा विचार कर वह बोली, "हाँ, ठीक तो है । जो कुछ महाराजा ने कहा सत्य ही कहा । आपने श्लोक की जो व्याख्या की थी वह सही नहीं थी । फिर महाराजा उसे कैसे ठीक मानते ? तुम्हारी ही भूल है" । यह सुनकर पंडित गुस्से में एक क्रुद्ध नाग की तरह, पलंग पर उठ बैठा । "मूर्ख स्त्री तू क्या जानती है ? क्या मेरी बुद्धि तुझ से कम है ? तू जो कि निरन्तर रसोई घर में भोजन बनाने और उसे परोसने में ही लगी रहती है, मेरे जैसे प्रसिद्ध पंडित से भी अपने को अधिक विद्वान समझती है ? बकवास बन्द कर और मेरे सामने से चली जा", उसने गर्जना की ।

लेकिन वह महिला वहीं दृढ़ खड़ी रही और बोली, "स्वामी ! एक सच्ची बात सुनकर आपको इतना क्रोध क्यों आता है ? अपने मन में उसी श्लोक को एक बार फिर से दुहराइये और उसके अर्थ पर विचार कीजिए । इसके बाद आपको स्वयं ही उसका सही उत्तर मिल जाएगा ।" इस प्रकार स्त्री ने अपने मधुर शब्दों से अपने पति के मन को शान्त किया ।

तब पंडित ने श्लोक के प्रत्येक शब्द का सूक्ष्म विश्लेषण करना शुरू किया,

'अनन्याश्चितयन्तो मां' उसने शुरू किया, और फिर सावधानी पूर्वक सोच-सोचकर इसके भिन्न-भिन्न भावार्थ जोर से कहने लगा । स्त्री ने बीच में ही टोक कर कहा, "शब्दों के केवल अर्थ को सीखकर उनकी व्याख्या करने से क्या लाभ ? इन महाराजा के पास आप किस प्रयोजन से गये थे, मुझे बताइयेगा ? आपके वहाँ जाने का असली कारण क्या था ?" इस पर पंडित क्रोध से भुनभुना उठा, "क्या मुझे इस कुटुम्ब का, इस घर का पोषण नहीं करना ? तुम्हारा इन सब कुटुम्बियों के खाने, पीने, कपड़े और अन्य वस्तुओं के खरीदने के लिए खर्चा मैं कहाँ से लाऊँगा ? वास्तव में मैं इसी प्रयोजन से महाराजा के पास गया था, नहीं तो उनसे मुझे और क्या काम हो सकता है ?" उसने चिल्लाकर कहा ।

तब स्त्री ने उत्तर दिया, "भगवान् कृष्ण द्वारा इस श्लोक में जो घोषणा की गई है यदि उसे आप किंचिन्मात्र भी समझे होते तो महाराजा के पास आपको जाने की उत्कंठा होती ही नहीं ! भगवान् ने इस श्लोक में यह प्रकट किया है कि यदि उनकी आराधना अनन्य भाव से, बिना किसी अन्य विचार के की जाए, यदि कोई अपने को उन्हें समर्पित ही कर दे, निरन्तर उनका ही ध्यान करें तो भगवान् स्वयं इस प्रकार पूर्णरूप से शरण में आए हुए भक्त की सब इच्छायें पूरी कर देंगे । इन तीनों का आपने पालन नहीं किया, महाराजा के पास आप इस विश्वास से गये कि वह आपको सब कुछ देंगे । यहाँ आपका आचरण इस श्लोक के भावार्थ से बिल्कुल भिन्न था इसलिये महाराजा ने आप की व्याख्या को स्वीकार नहीं किया" ।

यह सुनकर वह प्रख्यात पंडित थोड़ी देर स्तब्ध बैठकर उसके कथन पर बारम्बार विचार करने लगा, उसे अपनी भूल समझ में आ गई । अगले दिन वह महाराज के पास नहीं गया और अपने घर में ही कृष्ण की पूजा में लीन हो गया । उधर महाराजा ने पंडित को सभा में आया न देख उसका कारण पूछा तो हरकारों ने पता लगाकर बताया कि वह घर में ही है और बाहर निकला ही नहीं है । महाराजा ने उसे संदेश भेजकर बुलवाया, लेकिन पंडित ने बाहर आने से मना कर दिया और कहा, "मुझे किसी के पास जाने की आवश्यकता नहीं है, मेरा कृष्ण मुझे सब कुछ देगा, वह स्वयं मेरा योगक्षेम वहन करेगा, मैंने अपमान सहा क्योंकि केवल शब्दों के विविध भावार्थों को जानने की उत्कंठा में मैं अंधा हो गया था और तब तक उनके आंतरिक तथ्य को समझ नहीं सका था । भगवान् की शरण होकर यदि मैं निरन्तर

उनका ही ध्यान करूँ तो वह मुझे स्वयं ही जो कुछ मैं चाहूँगा, देंगे ।"

हरकारे ने जब यह संदेश राजमहल में पहुँचाया तब राजा पैदल ही पंडित के घर गया और उसके चरणों में गिर कर बोला, "जिस श्लोक की आपने कल व्याख्या की थी उसका भावार्थ अपने स्वानुभव द्वारा आज मुझे समझाने के लिए मैं आपको हार्दिक धन्यवाद देता हूँ ।" इस प्रकार महाराजा ने पंडित को सचेत किया कि आध्यात्मिकता का प्रचार यदि अपने अनुभव की घरिया में गलकर न निकला हो तो वह केवल ऊपरी चमक और आडम्बरमात्र ही रहता है । इस विषय को तुमने समझ लिया न ?

आज भी अनेकों विद्वान् गीता का प्रवचन करते फिरते हैं, उसका प्रचार करते हैं, लेकिन उसके सिद्धान्तों को आचरण में नहीं उतारते । वे तो संसार को मूल्यहीन छिलके, पाठ्यपुस्तक के अर्थमात्र, शब्दार्थ की व्याख्या ही बताते हैं । गीता का आचरण में अभ्यास न कर उसका प्रचार करना, उस पवित्र ग्रंथ का मूल प्रयोजन नष्ट कर उसका अपमान ही करना है । वे गीता को अपने जीवन की प्राणवायु कह कर प्रशंसा करते हैं, उसे सब शास्त्रों का मुकुट कहते हैं; उसे साक्षात् भगवान् के अक्षरों से निकली वाणी कहते हैं, वे पुस्तक को इतना आदर दिखाते हैं कि उसका नाम लेते ही उनके नेत्रों में अश्रु उमड़ने लगते हैं, उसे वे अपने सर पर लगाते हैं, आँखों से स्पर्श करते हैं, अपने पूजाघरों में रखकर बड़े उत्साह से उसकी पूजा कर भक्ति का प्रदर्शन करते हैं । यह सब आदर, इतनी सब पूजा केवल कागज के लिए, पुस्तक के लिए ही है ।

यदि उनमें वास्तव में भगवान् के शब्दों के लिए या पुस्तक के विषय के लिए आदर होता तो वे उसे आचरण में उतारने का प्रयत्न अवश्य ही करते, हैं न ? नहीं, वे ऐसा कोई प्रयत्न नहीं करते, उन्हें लेशमात्र भी गीता का ऐसा अनुभव या ज्ञान नहीं होता । यदि होता तो वे धन कमाने के लिए अपने अनुभव का प्रचार न करते और केवल भगवान् के अनुग्रह की ही याचना करते ।

नहीं, आजकल के इन करोड़ों गीता प्रचारकों में से एक भी ऐसा गीता-प्रचारक नहीं है जिसे भगवान् के अनुग्रह की आकांक्षा हो यदि उनमें ऐसी आकांक्षा होती तो वे आमदनी या धन के बारे में न सोचते ।

उन्नीसवाँ अध्याय

गीता के प्रचारकों की संख्या आजकल बहुत बढ़ गयी है। परिणामस्वरूप अनेकों प्रकार के अर्थ, असली अर्थ से विपरीत और सच्चे महत्व को ढकने वाले, बनने लगे हैं । अर्थ करने वाले का जैसा स्वभाव और चरित्र होता है वैसा ही अर्थ बन जाता है । एक बार एक मत बना लेने पर प्रचारक उसे तर्कों द्वारा पुष्ट कर अन्य सबको झूठा साबित करता रहता है । और फिर वही मत तोते की तरह बार-बार दुहराया जाता है । गीता को आचरण में उतारकर अपने व्यावहारिक जीवन का एक अंग बनाने का प्रयत्न ही नहीं किया जाता । ऐसे गीताप्रचारक महान् होने का पाखंड कर, प्रमाण-पत्रों और पदवियों के बोझ से दबे इधर-उधर घूमते हैं । इस प्रकार धोखे से वे अपनी ही हानि करते हैं और गीता पर किये गये विश्वास को नष्ट करते हैं ।

भगवान् का प्रत्येक शब्द आचरण में उतारने के लिए ही है, वह मनुष्यों के कानों में उतार कर प्रसिद्धि पाने के लिए नहीं है । लेकिन समय इतना टेढ़ा हो गया है कि इन पवित्र शब्दों का ख्याति और प्रशंसा-प्राप्ति के लिए दुरुपयोग किया जाता है! जो लोग इन प्रचारकों की व्याख्यायें सुनते हैं वे भी उनकी सच्चाई का पता लगाने की परवाह नहीं करते कि गीता की आसमान तक ऊँची प्रशंसा करने वाले इन प्रचारकों ने इन उपदेशों के माधुर्य को चखा भी है या नहीं । इनकी कथनी और करनी दोनों एक दूसरे से बहुत दूर होते हैं । जब ऐसे लोग दूसरों को सदुपदेश देते हैं, तो उन्हें मालूम हो जाता है कि उपदेशक स्वयं अपने उपदेशों का पालन नहीं करते ! नहीं, करोड़ों लोगों में से एक भी गीता की शिक्षा को आचरण में नहीं उतारता ।

कुछ लोग शेखी मारते हैं कि पूरी गीता उनकी जीभ के छोर पर है और वे किसी भी समय, जो भी गीता का श्लोक तुम सुनना चाहो, अध्याय और श्लोक की संख्या मात्र बताने पर सुना देंगे, या फिर कोई भी वाक्य या शब्द कहने से उसका भी अध्याय और संख्या तुम्हें बता देंगे । विद्वत्ता के ऐसे प्रदर्शन पर मुझे हँसी आती है कि जीवन-व्यवहार में उपदेशों को उतारे बिना बिचारी जीभ के छोर को कितना भार वहन करना पड़ता है ! इतना तो एक ग्रामोफोन रिकार्ड भी दुहरा सकता है और उतना ही अपने लिए लाभ प्राप्त करता है ! यह निश्चित है कि एक श्लोक को अपने

आचरण में उतारना सब श्लोकों को रटकर कण्ठस्थ करने से कहीं अधिक लाभ-प्रद है । अर्जुन ने कृष्ण का प्रत्येक शब्द आचरण में उतारकर सत्य प्रमाणित कर दिया और अपने हृदय की शुद्धता से भगवान् का अनुग्रह प्राप्त किया ।

आजकल के विद्वान् पंडित गीता का एक भी शब्द आचरण में उतारने का आनन्द नहीं जानते । यह बड़ी दयनीय बात है । इसके बाद अनपढ़ और अज्ञानियों के बारे में हम क्या कह सकते हैं ? संक्षेप में, गीता के कुछ विख्यात टीकाकार भी इसकी शिक्षा के प्रतिकूल, इसके संदेश से विपरीत व कपटपूर्ण व्यवहार करते हैं । भगवान् के संगीत में प्रत्येक उपदेशक अपना एक अलग सुर मिला देता है और इस प्रकार अपनी विद्वत्ता की विशिष्ट अकड़ और मनपसन्द पक्षपात का प्रदर्शन करता है । इस प्रकार के एक उदाहरण पर विचार करें । छठवें अध्याय के दसवें श्लोक से गीता सूचित करती है कि "परिग्रह" एक घोर पाप है ।

अब गीता का प्रभुत्व मानने वालों का आचरण भी गीता के अनुकूल ही रहना चाहिए और उन्हें परिग्रह का त्याग करना चाहिये, ठीक है ? परिग्रह का अर्थ है, 'स्वीकार करना', चाहे वह शरीर के पोषण के लिए हो या धर्म की रक्षा के लिए । फिर भी सौ में निन्यानवे प्रचारक दान स्वीकार करते हैं । हर प्रकार का परिग्रह निंदनीय है, इसके लिए कोई भी ऐसी परिस्थिति नहीं, रियायत नहीं, जिसमें परिग्रह को छूट दी जा सके । फिर भी गीता-यज्ञों के लिए चन्दा, दान, आरती के लिए 'भेंट', गीता-प्रचारक-संघ के लिए खर्चा, गुरु के लिए 'नजर' या 'कनुका' माँगे जाते हैं । उपदेश के 'टिकट' ड्रामा या सिनेमा के टिकटों की तरह बेचे जाते हैं । जो लोग ऐसा करते हैं उन्हें कृष्ण के शब्दों में श्रद्धा नहीं होती अन्यथा उनका आचरण इतना विपरीत न होता । यदि उन्हें अपने आचरण की प्रतिकूलता पर विश्वास हो जाता तो वे ऐसे उलटे कार्य करने के लालच में पड़ते ही नहीं । श्लोक की व्याख्या करने के बाद वह अपना कर्त्तव्य पूरा हुआ समझते हैं और शिक्षा का अनुसरण करना आवश्यक नहीं समझते । दंभयुग होने से यह प्रभाव है । इस प्रकार के गीता-प्रचार को देख-कर लोगों का पहले तो प्रचारक में ही अविश्वास होता है और पश्चात् गीता में भी । फिर प्रचार केवल आडंबर और अहंकार में ही घुल जाता है ।

गीता की पुस्तक को जितना सम्मान मिलता है उतना गीता के उपदेशों को नहीं

मिलता । हजारों लोग पवित्र धर्म-ग्रंथ, गीता, रामायण, भागवत, महाभारत इत्यादि को देखते ही सिर झुका देते हैं, उन्हें आँखों पर लगाकर या सिर पर लगाकर या विशिष्ट सिंहासन पर पूजा घर में स्थापित कर, आदरपूर्वक उन पर कुछ फूल चढ़ाते हैं, अपने नेत्रों को बंद कर बैठते हैं, फिर गालों पर से अश्रु गिरते हुए पुस्तकों के सामने साष्टांग दण्डवत् करते और इसके बाद उठकर अपने में बहुत ही संतुष्ट होते हैं । यथार्थ में यह सम्मान तो कागज.के ढेर के लिए ही है पुस्तक में जो कुछ उपदेश लिखा है उसके लिए नहीं ।

मस्तिष्क को जो भार उठाना है वह कागजों का नहीं, बल्कि उन संदेशों का है जो उनमें समझाये गये हैं । आदर ग्रंथ को नहीं, लिखे हुए विषय को दो । उसे पूजा-स्थान में न रखकर हृदय में रखो । लेकिन रटकर सीखना, पूजा-कक्ष में ग्रंथ की पूजा करना, माथे पर रखना, आँखों पर लगाना इत्यादि इन सब बाहरी सम्मान मात्र से मन अहंकार रहित या उसी प्रकार की अन्य बुराइयों से मुक्त हो शुद्ध नहीं होगा । संदेश को हृदय में उतरने दो, उसे आचरण में प्रतिष्ठित कर उससे प्राप्त आनन्द का अनुभव करो । गीता को आदर देने का यही एक उपाय है ।

स्वादिष्ट खाद्य पदार्थों से भरे हुए थाल को माथे पर रखने, आँखों पर लगाने या साष्टांग दण्डवत् प्रणाम करने से वह तुम्हारी भूख शान्त नहीं कर सकता । गीता भी इसी तरह है । वह स्वादिष्ट भोजन से भरा एक थाल है, उसमें भक्ति, ज्ञान, कर्म और वैराग्य के मीठे पदार्थ भरे हैं । इसे खाओ भी और पियो भी, इसका एक ग्रास भी पर्याप्त होता है । भूखे मनुष्य को खेत की पूरी उपज खाने की आवश्यकता नहीं है । उसके लिए एक मुट्ठी चावल ही पर्याप्त है । प्यासे को पूरी गोदावरी पीने की आवश्यकता नहीं, एक ग्लास पानी ही पर्याप्त है ।

जिसे परमात्मा की भूख है उसे पूरी गीता को आचरण में उतारना आवश्यक नहीं है । गीता का एक ही श्लोक आचरण में उतारना काफी है । दियासलाई की डिबिया में कई तीलियाँ रहती हैं, किन्तु आग जलाने के लिए एक ही तीली पर्याप्त है । सावधानी और परिश्रम से इस छोटी ज्योति को तुम भारी आग में बढ़ा सकते हो, सभी तीलियों को खर्च करने की आवश्यकता नहीं । गीता में ऐसी सात सौ तीलियाँ हैं, प्रत्येक तीली से तुम ज्ञान की एक ज्योति जला सकते हो । अनुभव के पत्थर पर एक ही तीली की रगड़, इस ज्ञान प्राप्ति के लिए पर्याप्त है ।

इस प्रकार गीता का उपयोग आत्म-साक्षात्कार के लिए करना चाहिए, इसको इसी पवित्र कार्य के लिए रचा गया है । इसका दुरुपयोग करना एक बड़ी भूल है । ख्याति या धन, पदवी या प्रदर्शन के लिए इसका उपयोग करना अहंकार का लक्षण है । ऐसे कार्यों से दिव्यता भ्रष्ट होती है । इस 'ग्रंथ' से 'सुगंध' को निकाल लेना चाहिए, विद्वत्ता की यही कसौटी है । 'सुगंध' ही ग्रंथ का सार है लेकिन इसके विपरीत मस्तक को पुस्तक में परिवर्तित करना और मस्तक में पूरी पुस्तक धारण करने से कोई लाभ नहीं है ।

पत्थर में भगवान् को देखो, भगवान् को पत्थर में न बदलो । यही उचित दृष्टिकोण है । पत्थर भी भगवान्मय है इसलिए उसमें निहित जो दिव्य सत्य है उसे देखो । इस देश के लोगों का ऐसा दृष्टि-कोण भगवान् की उन्हें अमूल्य देन है । मोती समुद्र की लहरों पर नहीं तैरते, तुम्हें यदि इन्हें पाने की उत्कंठा है तो समुद्र की शान्त गहराइयों में डुबकी लगाओ । इस देश के लोगों ने प्राचीन काल से भगवान् को इसी प्रकार खोजा है ।

धर्म के अभ्यासरूपी शरीर में, परमात्मा का ज्ञान उनका हृदय है : इसी सत्य से प्रेरित होकर यहाँ के लोगों ने उन्नति की और अपनी रक्षा करने योग्य बने । वे बाहरी लड़क-भड़क, आडंबर, कपट या शरीर के सुख या आराम के दास नहीं हैं । वे तो आधारभूत आत्मा को आंतरिक दृष्टि द्वारा, मोह रहित होकर खोजते हैं । लेकिन भारत देश को लो, जिनका एक समय ऐसा भव्य स्वभाव था, आज शरीर-सुख विषयक उन्नति और आडंबर की ओर आकर्षित हो रहे हैं यह एक खेदजनक दुखांतकारी घटना है ।

जो गीता की धन-प्राप्ति की अभिलाषा से कथा कहते फिरते हैं, वे भगवान् को अपने से दूर रखते हैं । अपने इस व्यवहार का वे अनेकों प्रकार से समर्थन करेंगे इसमें संदेह नहीं । लेकिन जिसे भी गीता में सच्ची श्रद्धा है, जो गीता के उपदेशों का सच्चा पालन करने वाला है, वह इस व्यवहार का समर्थन नहीं करेगा ।

गीता धर्म को बढ़ाने के लिए कही गई है, धन को बढ़ाने के लिए नहीं : 'तोष' बढ़ाने के लिए इसका उपदेश किया गया है 'कोष' बढ़ाने के लिए नहीं । कृष्ण या राम या गीता के मंदिरों के नाम से धन एकत्र करना भगवान् में श्रद्धा कम करना है । जो भगवान् विश्वव्यापक और सर्वत्र उपस्थित है उसके रहने के लिए घर

बनाना मूर्खता है । केवल हृदय ही एक योग्य मंदिर है जहाँ कृष्ण और गीता को अभिषिक्त किया जाना चाहिए । नित्य, निरन्तर, स्वयंभू, अविनाशी परमात्मा के लिए एक कृत्रिम घर बनाना, जिसे समय नष्ट कर दे, सर्वथा अनुचित है । एक सीमा तक इसकी आवश्यकता हो सकती है । फिर भी उसके लिए प्राचीन मंदिर जो अब भी है उनका ही सदुपयोग करना बुद्धिमानी होगा । नये निर्माण करना और पुरानों को नष्ट होने देना, गाय को मारकर उसकी चमड़ी का जूता दान करने जैसी मूर्खता है । विश्व की भलाई प्राचीन मंदिरों का जीर्णोद्धार करने से हो सकती है न कि नये मंदिरों के बनने से । प्राचीन काल में मंदिरों की प्रतिष्ठा कठोर शास्त्रोक्त विधि द्वारा की जाती थी इसलिए वे बहुत ही पवित्र हैं । इस देश में जो भी थोड़ा बहुत सुख है वह इन प्राचीन मंदिरों से प्रसारित ज्योतिर्मयी शक्ति की ही देन है ।

ऋषियों ने प्राचीन काल में बहुत कष्ट झेले, संसार में विरक्त रहकर अपने शरीर को भी छिन्न-भिन्न कर वैयक्तिक मुक्ति का रहस्य और सामाजिक उन्नति की खोज में लीन होकर उन्होंने आचरण के सरल और करणीय नियम और जीवन व्यवस्था की परम्परा प्रदान की । लेकिन आजकल इनकी भी उपेक्षा और भ्रान्त व्याख्या होती है, नये नियम और व्यवस्थायें थोपी गई हैं, जिससे प्राचीन और अमूल्य नियमों की जो व्यवस्थायें थीं, उन्हें दबा दिया गया है ।

जब वृद्धजन, गुरु और पंडित जैसे लोग इन नूतन प्रकार के आचरणों को स्वीकार कर इनको आदर देंगे तब फिर भारत देश धर्मक्षेत्र, योगक्षेत्र और त्यागक्षेत्र कैसे बना रह सकता है ? आदर्शों के इस पतन से पता चलता है कि वास्तव में जो देश अन्न से परिपूर्ण था और जहाँ कोई भूखा नहीं था, वह आज अन्न के लिए रो रहा है । "शिवोऽहम्" मैं शिव हूँ इस पवित्र अनुभूति की प्रतिध्वनि पहले प्रत्येक पर्वत, घाटी, गुफा, मंदिर व प्रत्येक पवित्र नदी के किनारे से गूँजती थी लेकिन अब एक रुदन कर्णगोचर होता है कि, शवोऽहम्, शवोऽहम्— मैं शव हूँ ।

प्राचीन भारत में जो आनन्द व्याप्त था वह अब नहीं रहा ; उसके बदले में यहाँ अब चिंता भर गई है, यह सब आत्म-विज्ञापन का घर है, यहां खोखले आडंबर का अनुसरण किया जाता है । इन प्रवृत्तियों को रोकने के लिए आध्यात्मिक ज्ञान का प्रचार ऐसे लोगों द्वारा होना आवश्यक है जिन्होंने साक्षात् अपने अनुभवों द्वारा

साधना का आनन्द और उसके द्वारा साधना में सफलता प्राप्त कर ली है । एक सरल अनपढ़ मनुष्य से लेकर परमहंस तक को इसकी आवश्यकता को जान लेना चाहिए । सबको गीता में श्रद्धा रखनी चाहिए और इसे भगवान् की प्रामाणिक वाणी मानना चाहिए ।

भगवान् ने विश्वास दिलाया है, "योगक्षेमं वहाम्यहम्" : "मैं तुम्हारे योगक्षेम का भार यहाँ और इसके बाद भी वहन करूँगा" । भगवान् ने यह कार्य स्वेच्छा से अपनाया है । लेकिन जो भी व्यक्ति या आकांक्षी इससे लाभ उठाना चाहते हैं उन्हें निर्दिष्ट मार्ग पर चलकर निर्देशित नियमों का पालन करना होगा । और फिर भी उन्हें अनुभव हो कि कोई सहायता नहीं मिल रही है, तब अपने जीवन की भली भांति जाँच कर यह पता लगाना होगा कि क्या उन्होंने नियमित जीवन के बारे में भगवान् द्वारा निर्देशित सभी आज्ञाओं का पालन किया है? लोग इसकी जाँच नहीं करते, वे भूतकाल और भविष्य का भी विचार नहीं करते हैं और यह नहीं समझते कि भूतकाल की उपेक्षा और भविष्य का अज्ञान ही इसका कारण है । उनके कष्टों की यही जड़ है ।

भगवान् द्वारा दिलाये गये विश्वास को ध्यान में रखते हुए उसी श्लोक, "अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते" में निहित पूर्व निर्देशित शर्त को याद रखना है । 'योगक्षेमम् वहाम्यहम्' इस शर्त का मुकुट है, अन्तिम फल है । विश्वास मस्तक है, लेकिन मस्तक कभी भी अन्य अवयवों से स्वतंत्र कार्य नहीं कर सकता । गर्दन, कंधे और बाकी अवयवों के सहयोग के बिना मस्तक का ही सहारा लेना, लोहे की तिजोरी की चोरी हो जाने के बाद अपने हाथ में पकड़ी चाबी पर निर्भर रहने जैसा है! धन की चोरी हो जाने के बाद चाबी से क्या लाभ?

इस विश्वास को फलीभूत करने की क्या शर्तें हैं? बिना किसी अन्य विचार के भगवान् का स्थिर चिंतन और पूजा, अनन्य चिन्ता और उपासना । यदि पूजा में स्थिरता नहीं, पूजा पूर्ण समर्पण भाव से नहीं की गई है, फिर ऐसी शिकायत करना कि भगवान् मेरे कल्याण का दायित्व वहन नहीं करता है, क्या न्यायपूर्ण है?

औरों के सामने तुम समर्पण करते हो, दूसरों की तुम प्रशंसा और बढ़ा-चढ़ाकर उनके गुण गाते हो, अन्य विचारों में लीन रहते हो, फिर भगवान् तुम्हारा दायित्व कैसे सँभाल सकते हैं? सेवा तो तुम दूसरों की करते हो और

पुरस्कार भगवान् से चाहते हो । यह अनन्य चिन्ता कैसे कही जा सकती है ? एक राजा के सेवक को राजा की ही सचाई से सेवा करनी चाहिए, यदि वह सेवा तो राजा की करे और प्रेम उसका अपने कुटुम्ब से ही हो, तो इसे अटल राजभक्ति नहीं कह सकते । जिससे तुम्हें प्रेम हो उसकी ही तुम सेवा करो और जिसकी सेवा करो उसी में अपना प्रेम रखो । शरणागति का यही रहस्य है । कृष्ण के शब्दरूपी फूलों से व्यास ने एक सुन्दर हार बनाया, उस हार का शिखामणि यह श्लोक है । उन शब्द रत्नों के हार का यही सुमेरु है ।

भगवान् द्वारा "योग" और "क्षेम" शब्दों के उपयोग का अर्थ यहाँ "योग" अर्थात् इच्छित वस्तु की प्राप्ति और "क्षेम" इस प्रकार वस्तु की रक्षा है । जिस नियम के अधीन तुम इसको रक्षित रख सकते हो वह है : अनन्य चिन्ता, केवल भगवान् का ही ध्यान । इससे मन शुद्ध हो जाता है, वह तुम्हें भक्त बना देती है । भक्त की यह पहचान है कि वह भगवान् की बातें करता है, भगवान् के गीत गाता है, केवल भगवान् को ही देखता है, भगवान् के साथ काम करता है, और उसी के साथ अवकाश-काल व्यतीत करता है ।

ऐसे व्यक्तियों को यज्ञ या योग करने की आवश्यकता नहीं । उन्हें पुण्य संचित करने या दान कार्यों में व्यस्त रहने की भी आवश्यकता नहीं, और न तीर्थ करने की है । यदि वे यह सब नहीं कर पाते तो उदास क्यों होते हैं ? क्यों ऐसी शिकायत करते हैं कि भगवान् ने उन्हें यह सब कार्य करने का न तो अवसर दिया, और न साधन ही दिया ? ऐसे सब कार्यों की भगवान् उनसे अपेक्षा भी नहीं करते, वे चाहते भी नहीं कि यह किये जायें । साधना द्वारा शुद्ध किये गये मन में जो आता है वह दो : वह उसे प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करेंगे । इच्छा होने पर जिन्हें 'अच्छे कार्य' कहा जाता है, तुम कर सकते हो लेकिन ध्यान रहे कि मन यदि अशुद्ध होगा, पात्र में भगवान् के नाम की 'कलई' नहीं चढ़ी होगी तो तुम्हारे वे सब अच्छे कहलाने वाले कार्य दूषित हो जायेंगे । भगवान् विशेष रूप से पात्र की शुद्धता चाहते हैं ।

ध्यान दो कि परमभक्त कुचेला द्वारा शुद्ध मन से भगवान् को दिये गये झुलसे चावलों से ही वे प्रसन्न हो गये । महाकाव्यों और पुराणों में विदुर और द्रौपदी के अनुभव पढ़ो । भगवान् को उन्होंने क्या दिया ? विदुर ने एक कटोरी कांजी ही दी थी, द्रौपदी के पास देने को एक पत्ते का टुकड़ा ही था । देखने में उनका कोई

मूल्य नहीं था, कोई धेला भी न देता । लेकिन सोचो, भगवान् ने बदले में कितना दिया । वह वस्तुओं की कीमत पर ध्यान नहीं देते । कार्य जिस भावना से प्रेरित होकर किया जाता है उसी भावना को वे आँकते हैं । इसलिए भगवान् का अनुग्रह पाने के लिए अपनी भावना शुद्ध करो ।

बीसवाँ अध्याय

गीता में स्पष्ट रूप से सूचित किया गया है कि मन रूपी मानसरोवर के निर्मल जल में खिला हुआ हृदय-पुष्प (हृदय-कमल) ही अपवित्रता से मुक्त होता है और केवल वही भगवान् को अर्पण करने योग्य है । इसीलिए कृष्ण ने अर्जुन से कहा, "मेरे प्रिय बन्धु ! जो भी कार्य तुम करो, कैसा भी उपहार दो, भोजन करो, सब कुछ पूजा समझ, समर्पण भाव से, भगवान् को भेंट समझ कर करो क्योंकि ऐसी ही भावना से किए गये कार्य मुझ तक पहुँचते हैं । मेरा कोई एक विशिष्ट नाम नहीं है, सब नाम मेरे ही हैं । मेरा न कोई मित्र है न शत्रु । मैं अप्रभावित रहने वाला साक्षी मात्र हूँ जो मेरी सेवा कर उसमें आनन्द लेते हैं, मैं उन सब में वास करता हूँ ।"

इससे अर्जुन के मन में कुछ संदेह उत्पन्न हुए । उसने पूछा, "कृष्ण ! आप कहते हैं कि मैं कोई भेदभाव नहीं करता, मेरा न कोई मित्र है न शत्रु, तब ऐसा क्यों है कि कुछ लोग सुखी हैं और कुछ दुःखी हैं; किसी को मन और शरीर का बल है तो किसी को अशक्ति और दुर्बलता, कोई दरिद्र है तो कोई धनवान ? ऐसा क्यों होता है ? जब आप किसी भी भेदभाव से परे हैं, तो आप सबको समान स्थिति में क्यों नहीं रखते ? तथ्यों को देखते हुए यह मानना कठिन है कि आप पक्षपात रहित हैं ।"

संदेहों से व्याकुल अर्जुन को देख भगवान हँसे । "मैं केवल सत्य ही कहता

हूँ, अपने कथन को तुम्हारी पसंद और नापसंद के आधार पर व्यवस्थित नहीं करता । तुम्हारा अनुमोदन देख न तो मुझे गर्व होता है और न तुम्हारी असहमति देख उदास होता हूँ । मैं सब में एक समान हूँ लेकिन सब मुझमें एक समान भाव नहीं रखते हैं । तुमने देखा होगा कि शीतकाल की रात में गाँव वाले आग जलाकर, उसके चारों ओर बैठते हैं, लेकिन अग्नि का ताप पास बैठने वालों को ही आराम देता है, जो दूर बैठे हैं उन्हें शीत ही सहना पड़ता है, यदि लोग इस प्रकार दूर ही बैठे रहें और फिर शिकायक करें कि उन्हें ताप नहीं मिल रहा है, तो क्या इसे तुम अग्नि का पक्षपात कहोगे ? अग्नि भेदभाव रखती है, ऐसा तर्क करना अनुचित है ।

"दिव्यरूप दर्शन की तेजस्विता इसी प्रकार की है । यदि तुम इसे खोजकर प्राप्त करना चाहते हो तो इसके समीप आओ और वहीं स्थिर रहो । सभी को समान अधिकार है कि वह समीप आये, अग्नि प्रज्वलित करता रहे जिससे उसे सतत प्रकाश और उष्णता मिले । अग्नि भेदभाव रहित है । इसका लाभ उठाने और इसे अधिक से अधिक प्रज्वलित करते रहने के प्रयासों में ही केवल भेदभाव है । मैं ही तेजस्विता हूँ । मुझ में पक्षपात बिल्कुल नहीं है । मेरी अनुभूति का, मुझसे परम आनन्द पाने का सौभाग्य और समान अधिकार सबको प्राप्त है । भेदभाव और भिन्नता साधकों के दोषों का परिणाम है । यह सब दोष मुझ में नहीं हैं ।"

कृष्ण के प्रेमपूर्ण शब्दों पर तुमने ध्यान दिया ? उनकी कृपा दृष्टि को देखा । मनुष्य वास्तव में अपने दोष न देख दूसरों के दोषों को खोजता रहता है । यदि परमात्मा में दोष होता तो पूरी सृष्टि का संचालन और उसकी रक्षा कैसे हो सकती थी ? परमात्मा के लिए सब समान हैं । उसके हृदय में सबके लिए समान प्रेम है । इसीलिए विश्व में कम से कम इतनी भी शांति और समृद्धि है । बीमार को केवल सांत्वना देने के लिए ही डाक्टर कह सकता है कि बुखार नहीं है, लेकिन थर्मामीटर कभी झूठ नहीं बतलाता । परमात्मा आंतरिक-भावना को जानकर उसी के अनुकूल उपाय करता है न कि ऊपरी हालत से प्रभावित होता है । यह न तो भूल कर सकता है और न उसे कोई धोखा दे सकता है । सांसारिक लोग बाह्य दिखावट पर ही ध्यान देते हैं और वही उनका मार्ग दर्शक होती है । पानी के अन्दर उतरने से ही उसकी गहराई का पता चलता है । खाने की वस्तु को चखने से ही उसके स्वाद का अनुभव होता है । बिना पानी में उतरे या खाये जब लोग गहराई

या स्वाद बताते हैं, तब उनकी सूचना को सत्य कैसे कहा जा सकता है ? यदि भगवान् भेदभाव रखते हैं तो वृन्दावन की गोपिकाओं को सायुज्य का परमानन्द कैसे प्रदान कर दिया ? वे ऐसे पक्षपाती होते तो शबरी के झूठे फल खाते ! या जनक ब्रह्मज्ञानी बन जाते ! क्या भक्त नन्दनार को भगवान् के दिव्य दर्शन प्राप्त होते ! प्रहलाद और विभीषण को भगवान् के दिव्य दर्शन प्राप्त होते ! प्रहलाद और विभीषण की भगवान् तक पहुँच होती ! हनुमान को राम का सन्देशवाहक बनने की अनुमति मिल जाती ! वाल्मीकि द्वारा रामायण महाकाव्य रचा जाता ! यह सब क्या परमात्मा का किसी के प्रति पक्षपात प्रकट करता है ! या ये सब यह प्रमाणित करते हैं कि परमात्मा में ऐसे लक्षण नहीं है ! ये सब परमात्मा के प्रेम के, उनकी सब के प्रति समान कृपा भाव के उदाहरण हैं ।

"मन्मना भवमद्भक्तो, मद्याजी मां नमस्कुरु ।" भगवान् के इस आदेश का यही अर्थ है कि अपना मन मुझ पर स्थिर रखो । मेरी निष्काम भक्ति करो; अपने सब वचन, कर्म और विचार मुझे अर्पण कर, मुझमें दृढ़ता से अनुरक्त होओ, और मुझे साष्टांग (हृदय, मन वचन से मस्तक, आँख, हाथ, पैर और जंघा को भूमि से स्पर्श कराते हुये नमस्कार) प्रणाम करो" यह उनका निर्देश है । इस प्रकार भगवान् ने स्पष्ट किया कि उन्हें 'निर्दोष मन एवं 'निर्मल भक्ति' ही सबसे अधिक प्रिय है ।

मानवत्व में लिप्त रहकर तुम माधवत्व को नहीं प्राप्त कर सकते । माधवत्व को पाने के लिए तुम्हें माधव तत्व को पाना होगा । अँधेरा देखने के लिए सामने अंधेरा ही होना चाहिए और प्रकाश देखने हेतु प्रकाश का ही होना आवश्यक है । बुद्धि को समझने के लिए तुम्हें बुद्धिमान् होना पड़ेगा । निरंतर मानवत्व में लीन रहकर तुम माधवत्व की महिमा कैसे जान सकते हो ? दिव्य बनने के लिए तुम्हें दिव्य स्मरण, दिव्य कार्य और दिव्य आचरण करना होगा । इस लक्ष्य के लिए रुचि, परिस्थिति और भाव इन सभी में सामञ्जस्य आवश्यक है । तभी तत्व को समझा जा सकता है ।

इसी सत्य के आधार पर कृष्ण ने आगे कहा : "अर्जुन ! ज्ञानी, देवताओं से भी श्रेष्ठ हैं और देवता मनुष्यों से भी श्रेष्ठ हैं; लेकिन ये ज्ञानी भी परमात्मा की पूर्ण महत्ता को नहीं समझ सकते तो फिर तुम जैसा साधारण मनुष्य इसे कैसे समझ सकेगा ?" इस सहज चुटकी से अर्जुन ने संकोचवश अपना सिर झुका लिया और

विनम्रता पूर्वक बोला, "हाँ, मैं मानता हूँ । हे कृष्ण ! चाहे कितना ही बुद्धिमान् कोई क्यों न हो, आप सभी की समझ के परे हैं । आप अनन्त हैं, अनेक रूप हैं । मुझे विश्वास हो गया है, मैं जानता हूँ, आप स्वयं विश्वव्यापक हैं ।

"मैं विश्वास करता हूँ कि आप ही सम्पूर्ण विश्व के निर्माता हैं, और आप ही इसका पोषण करते हैं; आप समस्त संसार के विकास और विषमता दोनों के अधिष्ठाता है । सृष्टि, स्थिति और लय आपके आधीन है । यह ज्ञान आपने ही मुझे दिया था इसके लिए मैं आपका सर्वदा कृतज्ञ रहूँगा, अपने को धन्य समझूँगा कि आपने मुझे इस योग्य समझने की कृपा की, मुझे इससे प्रसन्नता मिली है ।

"लेकिन अपने द्वारा निर्मित इस विश्व में आप किस प्रकार और किस रूप में व्याप्त हैं ? आप से इसका उत्तर जानने की मुझे बहुत उत्सुकता है जिससे अपने जीवन का उद्धार कर सकूँ ।" अर्जुन ने कहा, "और इन सब स्वरूपों में से किसका मैं ध्यान करूँ ? जिससे उसी प्रकार का ध्यान कर मैं अपनी रक्षा करूँ ।" उसने विनय की ।

"एक नन्हा-सा छोटा प्रश्न है यह !" कृष्ण ने मुस्करा कर कहा, तुम्हें लगता है कि इसका उत्तर मिलते ही तुम इसे सरलतापूर्वक समझ लोगे ! ठीक है ! चूँकि सवाल पूछा ही गया है, मैं भी किंचित् द्रवीभूत होकर इसका उत्तर दे ही दूँ । ध्यान से सुनो । प्रत्येक प्राणी के हृदय-कमल की अन्तरवर्ती आत्मा मैं हूँ । यदि इस पर तुम्हें विश्वास है तो अपना जीवन इसी निष्ठा के आधार पर नियंत्रित करो, कि प्रत्येक की अन्तरवर्ती आत्मा मेरी ही परम आत्मा है; तब तुम्हारे लिए इतना ही ध्यान पर्याप्त होगा लेकिन इतनी सावधानी रखना कि यह निष्ठा दृढ़ हो और टूटने न पाये । इसी पर दृढ़तापूर्वक स्थिर रहो । इसे आचरण में उतारो ; कर्म, शब्द और विचारों में इस निष्ठा को प्रतिष्ठित करो । तभी एकात्मता का अनुभव (कि तुम मैं हूँ और मैं तुम) प्राप्त हो सकेगा ।

"पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश जो कि पंच तत्व हैं, वे भी मेरे स्वरूप हैं । मैं सूर्य, चन्द्र और तारों की कार्य-शक्ति हूँ । प्रलय आने पर मैं ही वह शक्ति हूँ, जो नष्ट करती है और फिर से निर्माण करती है । सूक्ष्मतर से लेकर विराट् तक सब मैं ही हूँ; मैं ही भूतकाल, वर्तमान और भविष्य हूँ । मनुष्य और प्रकृति को रचने वाले तीनों लोक और तीनों गुण मैं हूँ । ऐसी कोई वस्तु नहीं जो मैं नहीं, कोई

नाम ऐसा नहीं जो मेरा न हो । शरीर के एक भाग से निकला रक्त उसके दूसरे हिस्से जैसा ही है; इसी प्रकार परमात्मा सब जगह एक ही है" ।

तब अपने दोनों हाथ जोड़कर अर्जुन ने कहा, "कृष्ण ! पूरी सृष्टि तुम्हारा स्वरूप है, है न ? ज्ञान, धन, सत्ता, शक्ति, सामर्थ्य, उत्साह यह सब आपकी ही महत्ता प्रकट करते हैं । क्या आप मुझे अपने विश्वरूप दर्शन देकर मेरे जीवन की इस पवित्र महत्वाकांक्षा को पूर्ण नहीं करेंगे ? मैं आपके चरणों में विनयपूर्वक प्रार्थना करता हूँ" ।

अर्जुन के हृदय का संताप जानकर कृष्ण ने उत्तर दिया, "अर्जुन मैं तुम्हारी मनोकामना पूर्ण करूँगा । लेकिन तुम्हारी यह स्थूल दृष्टि उस महिमा को देख नहीं सकेगी । यह सीमित मानवी दृष्टि केवल प्रकृति को ही देख और समझ सकती है । इसलिए मैं तुम्हें दिव्य-दृष्टि दूँगा । अब देखो !" ऐसा कहकर भगवान् ने अर्जुन को अपना विश्वरूप और उससे भी अधिक का दर्शन दिया । कितनी अगाध कृपा ! कितनी श्रेष्ठ अनुभूति !

यहाँ पर एक अतिसूक्ष्म विवरण पर साधक ध्यान दें । वेद, शास्त्र, पुराण और इसके अतिरिक्त अनेकों विद्वान्, जिनका इस विषय पर अधिकार है, वे सब परमात्मा को सर्वव्यापी, सर्वभूत अन्तरात्मा, अर्थात् सर्वत्र आसीन और प्रत्येक में निहित, आंतरिक सत्य बताते हैं । इसी तथ्य पर कुछ लोग तर्क करते हैं कि, "यदि परमात्मा इस प्रकार सर्वत्र और सब में व्याप्त है तो उन्हे सब लोग क्यों नहीं देख सकते ! इन सब लोगों के इस प्रश्न का यह उत्तर है - पंचतत्वों से बनी मनुष्य की स्थूल दृष्टि, इन पाँचों तत्वों के परे कैसे देख सकेगी ?

जिस वस्तु से प्रकाश परिवर्तित नहीं हो सकता उस वस्तु को कोई भी वस्तु प्रकाशयुक्त नहीं कर सकती । लेकिन दीपक की लौ स्वतः प्रकाशित होकर चारों ओर प्रकाश फैलाती है । परमात्मा स्वतः प्रकाशित है; वह सबको प्रकाशित करता हैं, वह, प्रकृति से, जो उसकी महत्ता प्रकट करती है, परे है । इस लिए उसे ज्ञान की दृष्टि से ही देखा जा सकता है, ऐसी दृष्टि परमात्मा की कृपा से प्राप्त होती है । इसलिए, भगवान् की उपासना करना, साधना का एक आवश्यक अंग है । जो अपने आपको देखने में सफल नहीं होता, वह दूसरों को अपने से बाहर जो कुछ भी है उसे देखने में कभी सफल नहीं हो सकता । ऐसीसाधना करो जिससे भगवान्

का अनुग्रह प्राप्त हो । उस अनुग्रह से तुम्हें ज्ञान-दृष्टि उपलब्ध होगी । भक्ति-मार्ग से ही उसकी ओर सरलता पूर्वक पहुँचा जा सकता है । भगवान् के विश्वरूप दर्शन का अनुभव करते हुए अर्जुन के आनन्दाश्रु भर रहे थे, "ओह ! सर्वशक्तिमान परमात्मा ! सब देवतागण सृष्टिकर्ता ब्रह्मा, सब ऋषि, महात्मा ! अनेकों वस्तुएँ और प्राणी, सब चर और अचर वस्तुएँ : ओह ! मैं इनमें से प्रत्येक को देख रहा हूँ. मैं सब देख रहा हूँ . . . ओह . . . आप के भीषण मुख से तेज की ज्वाला प्रसारित हो रही है और बहुत दूर तक फैलती चली जा रही है । यदि मैं इस भीषण स्वरूप का अर्थ और अभिप्राय जान सकता तो कैसा रहता !" अर्जुन ने विस्मित होकर पुकारा ।

"अर्जुन ! तुमने देखा ? क्या इससे तुमने जाना कि मैं ही सब कार्यों का सब प्राणियों व वस्तुओं का स्रष्टा, पोषक और क्षय करने वाला हूँ ? क्या तुमने यह समझा कि इस युद्ध-क्षेत्र में तुम न तो किसी को बचा सकते हो और न किसी को मार सकते हो ? तुम में किसी को मारने की कोई शक्ति नहीं है और न वे अपने प्रयत्न से स्वयं मर ही सकते हैं । जीना और मरना सब मेरी इच्छानुसार होता है । "मैं पृथ्वी का भार वहन करता हूँ, मैं भार का सर्जनहार हूँ, मैं ही उससे मुक्त करता हूँ" अर्जुन की पीठ को स्नेह से थपक कर, उसके परम आनन्द के उभार को मधुर शब्दों से शांत करते हुए उन्होंने बताया ।

यह घटना एक सुन्दर उदाहरण है जिसके द्वारा स्पष्ट होता है कि भगवान् सच्ची भक्ति द्वारा किस प्रकार बँधे हैं और अपने भक्तों को सांत्वना और प्रोत्साहन देने को कितना झुकते हैं । कल्पना करो ! यही अर्जुन जो कि एक साधारण व्यक्ति की तरह झिझक रहा था, घबड़ाया हुआ था, प्रत्यक्ष प्रमाण मिलने पर, पराक्रमी और सब कलाओं में प्रवीण भीष्म, द्रोण और कर्ण का सामना कर उन्हें कैसे पराजित कर सका ? भगवान् की इच्छा-शक्ति से ही अर्जुन ने उन सब पर विजय पाई ।

अर्जुन ने अपने अश्रु पोंछे और पूजा-भाव से हाथ जोड़कर बोला, "ओह, भगवन् ! मैं ऐसे विश्वरूप का दर्शन कर रहा हूँ जिसके बारे में पहले न तो कभी मैंने सुना, न सोचा, न देखा था ! मैंने अब जाना है कि वास्तविक सत्य यही एक है । उन भीषण ज्वालाओं का तेज मुझे झुलसा रहा है, उस महत्ता के तेज से मेरा शरीर झनझना रहा है । अपनी मधुर मुस्कान वाले स्वरूप में आप फिर से मेरे

सामने व्यक्त होइये । मुझसे अब आपका विश्वरूप-दर्शन सहा नहीं जाता । परमपिता! अपना पहला स्वरूप ही धारण कीजिये, मैं अब इसे देखने में असमर्थ हो रहा हूँ ।" अर्जुन ने विनय की ।

अनुग्रहवश भगवान् ने मान लिया और कहा, "अर्जुन ! तुमने अभी मेरा विश्वरूप देखा, ऐसा दर्शन, कितना भी कोई श्रेष्ठ वेदज्ञ, सिद्ध-संन्यासी या आत्म-संयमी हो उसे भी नहीं प्राप्त हो सकता । मेरा विश्वरूप-दर्शन तो ऐसे सच्चे भक्त को ही मिलता है जिसमें अनन्य भक्ति है । ऐसे भक्त सर्वदा केवल परमात्मा को ही देखते हैं; वे जो भी कार्य करते हैं परमात्मा को पूजा-रूप समझकर अर्पण करते हैं । उनकी दृष्टि के सामने अन्य कोई स्वरूप नहीं होता; उनके मन में अन्य कोई भी विचार नहीं होता; और न कोई अन्य कार्य ही होता है । सर्वदा, सर्वत्र वह केवल मेरा ही स्वरूप देखते हैं । मेरा ही नाम जपते हैं, मेरा ही विचार करते हैं, मेरे ही या मुझसे सम्बन्धित अनुभव ही वे चाहते हैं; वे मेरे ही लिए कार्य करते हैं । ये ऐसे ही व्यक्ति हैं । हे अर्जुन ! ऐसे को ही मेरे दर्शन प्राप्त होते हैं । मैं भी केवल अनन्य-भक्ति ही चाहता हूँ ।"

मुस्कराते हुए, किंचित कंपित होठों से अर्जुन ने पूछा, "भगवन् ! मैं जानता हूँ आप अनन्य-भक्ति से प्रसन्न होते हैं लेकिन आप साकार उपासना से प्रसन्न होते हैं या निराकार से ? ऐसा कौन सा उपाय है जिससे आप अधिक द्रवित हों, और आपका अनुग्रह शीघ्र प्राप्त हो सके ? साधक के लिए क्या अधिक सुगम है और आपको अधिक क्या प्रिय है ? कृपया मुझे बताइये ।"

इस प्रश्न को सुनकर कृष्ण बहुत प्रसन्न हुए । उन्होंने कहा, "अर्जुन ! मेरे लिए दोनों प्रकार की भक्ति में, साकार और निराकार में, कोई अन्तर नहीं है । मेरी उपासना किसी भी प्रकार करो, मैं प्रसन्न होता हूँ, केवल इतना होना चाहिए कि मन मुझमें डुबा दो, और वचन, कर्म व मन, प्रत्येक से दृढ़ निष्ठा व्यक्त हो ।" अर्जुन ने उन्हें प्रश्न द्वारा बीच में ही रोका : "कृष्ण, क्या शुद्ध हृदय और दृढ़ निष्ठा ही पर्याप्त है ? क्या वर्ण-भेद या जीवन की परिस्थितियों द्वारा स्थापित सामाजिक व्यवस्था या स्त्री-पुरुष-भेद इसकी सफलता में रुकावट नहीं पहुँचाते ?" कृष्ण ने अर्जुन को फटकारा और उत्तर दिया, "इतनी अनुभूति होने पर भी, तुम ऐसे प्रश्न पूछते हो इससे मुझे आश्चर्य होता है । तुम अभी तक यह नहीं समझ सके कि

जिन्होंने अपना मन परमात्मा पर स्थिर कर लिया है, जो मुझमें ऐसा विश्वास रखते हैं कि मैं ही सत्य, नित्य और शुद्ध हूँ, उनमें लेशमात्र भी 'देह-भ्रांति" (कि आत्मा शरीर है) न होगी . . यदि उनमें अब भी स्त्री-पुरुष, वर्ण, जीवन, अवस्था और उसके अनुचर अहंकार तिरस्कार इत्यादि हैं तो वह यही प्रकट करेगा कि उन लोगों ने अपने मन परमात्मा को अर्पण नहीं किये हैं । जिन्होंने शरीर का मोह त्याग दिया है उनके लिए वर्ण, सामाजिक-व्यवस्था इत्यादि बाधायें नहीं होतीं ।

लेकिन आश्रम-धर्म और वर्ण-धर्म (वर्ण और ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, संन्यास और वानप्रस्थ की इन चार अवस्थाओं के लिए निर्धारित नैतिक आचरणों के नियम) किसी प्रकार से, मन को परमात्मा पर स्थिर रखने या मन से बुराई हटाकर उसे शुद्ध करने में या अपने सब कार्य, शब्द और विचार से परमात्मा की पूजा करने में बाधक नहीं होते । लिंगभेद या जातिभेद या सामाजिक स्थिति या जीवन की परिस्थितियों का प्रभाव उन्हीं पर पड़ता है जो शरीर को ही सत्य समझते हैं और जो ऐसा व्यवहार करते हैं मानो यह स्थूल संसार ही निरपेक्ष और शाश्वत है ।"

यह सुनकर अर्जुन ने कहा, "कृष्ण ! जिनको 'देह-भ्रांति' है उनके लिए निर्गुण-निराकार की उपासना बहुत कठिन है, है न ? क्या परमात्मा के साकार रूप की उपासना द्वारा, जिसे साधारण व्यक्ति भी सुगमता से कर सकते हैं, मन की शुद्धि, चैतन्य के आन्तरिक साधनों की शुद्धि हो सकती है ? कृपया मुझे समझाइये ।"

इक्कीसवाँ अध्याय

"अर्जुन ! लोग सोचते हैं कि भगवान् के रूप और गुण की उपासना करना ही पर्याप्त है । व्यक्ति को इससे कुछ समय के लिए ही सहायता या मार्ग-दर्शन मिल सकता है । केवल इतना करने से ही भगवान् मुक्ति नहीं देंगे । क्योंकि मुक्ति

जिसका लक्ष्य है उसे प्रथम शरीर का मोह छोड़ना होगा । ऐसा किये बिना आत्मिक स्थिति प्राप्त नहीं हो सकती । अपने को शरीर समझना ही अज्ञान प्रदर्शित करना है, आत्मा को प्रकृति से भिन्न समझना ही होगा ।

ध्यान और तप के द्वारा बाह्य पदार्थ-विषयक, सुखों की इच्छा को, जिसका आधार प्रकृति का मिथ्या मूल्यांकन है, हटाना पड़ेगा । इस इच्छा के हटने से मनुष्य नारियल की सूखी गिरी की तरह कोष और बाहर के रेशे दोनों से जुदा और लगाव-रहित हो जाता है; और फिर से अंकुरित होकर उत्पन्न नहीं होता है । तब वह सर्वदा दोष-रहित ही रहता है; व्यक्ति भी पुनः जन्म नहीं लेता और न उसके परिणाम-स्वरूप मृत्यु को प्राप्त होता है, अर्थात् वह मुक्त हो जाता है । कोष के अन्दर सूखे नारियल की स्थिति में होना जीवन-मुक्त स्थिति कहलाती है ।

जीवन-मुक्ति पाने के लिए परमात्मा "सब गुणों से ऊपर और परे" है ऐसा ध्यान करना आवश्यक है । यदि इसमें कठिनाई हो या तुम्हारी शक्ति से यह बाहर हो तो ध्यान का एक और उपाय है ; अपनी सब उपासना, सब भक्ति, सब धार्मिक-विधियाँ और अन्य संकल्प और जागरण, फलसहित मुझे समर्पित कर दो । सब कार्यों को पूजा में परिवर्तित करने वाले उस भगवान् को, यानी मुझे ही अपना अंतिम लक्ष्य समझो । अपना मन मुझमें स्थिर करो, मेरा ध्यान करो; तभी मैं तुम पर अपनी कृपा-वृष्टि करूंगा और इस परिवर्तनशील संसार-सागर के पार ले जाऊँगा । मेरी कृपा से तुम अपना लक्ष्य प्राप्त कर लोगे । अर्जुन ! मेरा निश्चल रहकर ध्यान करना सरल कार्य नहीं है । प्रत्येक इसमें सफल नहीं होता । कितना भी अधिक अभ्यास किया हो, बिना दूसरी वस्तुओं और विचारो पर मन विचलित हुए मुझ पर ही ध्यान दृढ़ रखना कठिन है ।

तुम इसलिए पूछ सकते हो, 'हमारे लिए अन्य कोई साधन नहीं' ? मेरा उत्तर है, "हाँ" है, मैं जिसमें प्रसन्न हूँ ऐसे कार्य को करने में जो उत्सुक हैं वे आत्मिक चैतन्य में प्रतिष्ठित होकर मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं । प्रार्थना, जप, परमात्मा की महिमा के गुणगान, उपासना इत्यादि द्वारा पूर्व-कर्म के पाप नष्ट हो सकते हैं; आंतरिक चैतन्य से प्रवृत्तियों और इच्छाओं के हटने पर इस शुद्धि द्वारा ऐसे ज्ञान का उदय होगा जो अन्धकार से मुक्ति की ओर ले जाता है ।

पाठकों को आवश्यक है कि वे इस विषय पर विचार करें क्योंकि विधि और

निषेध के तौल पर ही मूल्यवान् निष्कर्ष निकल सकते हैं उदाहरण के लिए भक्ति का प्रचलित अर्थ और भगवान् द्वारा बताई हुई भक्ति का अर्थ की भिन्नता पर विचार करो । भक्ति का प्रचलित अर्थ है भगवान् के लिए सच्ची भक्ति का होना । लेकिन इसका अर्थ इससे भी अधिक है ।

भगवान् में भक्ति तो केवल लक्ष्य पर पहुँचने के लिए एक अनुशासन रूप है । भक्ति की प्राप्ति होते ही साधक को वहीं नहीं रुकना चाहिए; उसे भगवान् के प्रति कितनी भक्ति और प्रेम हैं, इस पर इतना ध्यान न देकर, भगवान् को वह कितनी प्रिय है और उस पर उनकी कितनी कृपा है, इस पर ध्यान देना चाहिए। उसे सर्वदा यह जानने की उत्सुकता रहनी चाहिए कि भगवान् उसके किस व्यवहार से प्रसन्न होंगे; इसका पता लगाओ, यही आकांक्षा रखो, वही कार्य करो जिससे यह लक्ष्य प्राप्त हो-- यही सच्ची भक्ति है ।

लेकिन आमतौर से लोग भक्ति के इस आदर्श का पालन नहीं करते और न वे इस आदर्श की परिधि के बारे में विचार करते हैं । भक्त का भगवान् के लिए जो प्रेम है उस तक ही उनका ध्यान केन्द्रित रहता है । और इस प्रकार जिस धर्म और कर्म का भगवान् निर्देश देते हैं, उस पर कोई अधिक ध्यान नहीं दिया जाता । इसलिए कृष्ण कहते हैं कि, "जिस कर्म से भगवान् प्रसन्न होते हैं, वह भक्त की आकाक्षायें पूर्ण करने वाले कर्म से श्रेष्ठ है" । जो भी कार्य भक्त करे, सोचे, उपाय रचे, देखे, केवल भगवान् की कृपा प्राप्त करने के लिए करे, वे सब अपनी इच्छापूर्ति के लिए न होकर, भगवान् की इच्छा समझ कर किए जायें । भक्त को चाहिए कि वह अपने सब विचार और भावनाओं को भगवान् द्वारा निर्देशित पसद की कसौटी पर जाँचे ।

गीता प्रकट करती है कि किसी में चाहे कितनी गहरी भगवान् की भक्ति क्यों न हो, वह यदि अपने आचरण द्वारा भगवान् के निर्देशों, अर्थात् शास्त्रों में निहित धर्म के नियम, भगवान् के निर्देशों का संग्रह, जिसका रहस्य संतों और सिद्ध पुरुषों को बताया गया है, की अवज्ञा करेगा तो वह भक्त कहलाने योग्य नहीं । कृष्ण जब गीता में सूचित करते हैं, "भक्तिमान् यःस मे प्रियः" तब वहाँ 'भक्ति' यही अर्थ प्रकट करती है ।

इसके अतिरिक्त भक्त जो भी कार्य करे उनके लिए यह न सोचे, "मम कर्म"

मेरा कर्म, कृष्ण कहते हैं कि वह उसे, भगवान् द्वारा, भगवान् के लिए किया गया कर्म 'ईश्वरीय कर्म' ही समझे । प्रायः लोग सोचते हैं, कुछ कार्य तो उनके 'अपने' हैं और दूसरे 'भगवान्' के हैं । ये लक्षण सच्ची भक्ति के नहीं हैं । यदि सब कार्य भगवान् के सोचे जायें तो अहंकार की मलिनता या 'मेरापन' का दोष उन्हें नहीं लगेगा । भक्ति एक ऐसी शिक्षा है जोकि अहंकार और 'मैं' और 'मेरापन' की सीमा मिटाती है । यही कारण है कि जानकार लोग भक्त की व्याख्या भगवान् से वह 'अ-विभक्त' है 'अलग नहीं' है, यही करते हैं । हर समय. हर परिस्थिति में व्यक्ति के कार्य और भावनायें भगवान् में ही केन्द्रित होनी चाहिएँ । इसके विपरीत दुःख, चिन्ता और हानि से घिर जाने पर ही यदि तुम प्रार्थना करो, "हे भगवन् ! मुझे बचाओ, मेरी इनसे रक्षा करो"; और फिर इन कष्टों के हटते ही तुम यदि बाह्य-वस्तु-विषयक मामलों में दुबारा डूबने लगो, सांसारिक लक्ष्यों के बंधन में फिर पड़ जाओ, तो ऐसा आचरण निंदनीय ही होगा ।

गीता की यही शिक्षा है । भगवान् की उपासना आवश्यकता पड़ने पर ही नहीं करनी चाहिए । स्वाद बिगड़ जाने पर लोग चटपटा अचार माँगते हैं जिससे भोजन का स्वाद जीभ ले सके; इसी प्रकार दुःख पड़ने पर लोग भगवान् को खोजने लगते हैं । भक्ति की ऐसी दिखावट आजकल तेजी पर है; इसका कारण शायद वर्तमान समय के पाखंड का प्रभाव है । दुर्भाग्य से नामी साधक और व्यक्तियों में भी जिन्होंने भगवान् के लिए 'सर्वस्व' त्याग दिया है, और अब भगवान् को ही अपना 'सर्वस्व' समझते हैं, ऐसी खोखली भक्ति का प्रदर्शन भगवान् में उनकी भक्ति की शक्ति दिखाने के लिए ही होता है । अनेकों के लिए भक्ति एक 'परिधान' है, जिसे तीर्थयात्रा, या बड़ों के पास, या पूजागृहों में जाते समय ही ओढ़ लिया जाता है । घर वापस आकर वे इस आवरण के साथ-साथ भगवान् के प्रति आदर के सब भाव और विचार उतार देते हैं ।

यह सब केवल प्रदर्शन के लिए होता है । भक्ति तो पूर्णरूप से दृढ़ होनी चाहिए । हर परिस्थिति, हर समय मन को भगवान् में ही स्थिर रखना होता है । बहुत से व्यक्ति दृढ़तापूर्वक कहते हैं कि उनके सब कार्य भगवान् को समर्पित हैं, लेकिन उनके व्यवहार से व्यक्त होता है कि वे कार्य देह को ही समर्पित हैं । भगवान् को समर्पित करने के बदले केवल अपने शरीर को समर्पित करते हैं; अपने को

अज्ञानवश शरीर ही समझने से ऐसा करते हैं । और फिर दृढ़तापूर्वक मानते हैं कि, "यह मैं कृष्ण को समर्पित करता हूँ" लेकिन यथार्थ में तो वह अपने पुत्र को ही अपने कार्य समर्पित करते हैं, "यह राम को समर्पित है" लेकिन उनके भाव व्यक्त करते हैं कि अपने 'राग' (मोह-भाव, प्रेम) के लिए ये समर्पित हैं । फिर ऐसे कार्यों को समर्पण का आदरणीय नाम कैसे दिया जा सकता है ?

शरीर, मन और वाणी द्वारा प्रेरित होकर समर्पण किया जाता है । तुम्हारे कथन को यदि मन ने स्वीकार न किया, या मन ने जो अनुभव किया, उसे कार्य रूप में परिवर्तित न किया गया, तब समर्पण केवल एक पाखंड बन जाता है । विश्वास करो कि कर्त्ता, कार्य और क्रिया सब परमात्मा ही हैं; उन्हीं में अनुरक्ति रखो, संपत्ति, स्त्री और संतान में नहीं ।

तुम्हारा मन जिसमें आसक्त है, वहीं तुम्हारी भक्ति भी ठहर जाती है । भक्ति गंगाजल की तरह पवित्र है; कर्म जमुना जल की तरह है । और ज्ञान सरस्वती है जोकि रहस्यपूर्ण और गुप्त रूप से अन्दर प्रवाहित होकर, भक्ति और कर्म दोनों से मिलकर पवित्र बन जाता है । इन तीनों के मिलन को ही त्रिवेणी कहते हैं । इसका अर्थ है मन का लुप्त होना, तीनों गुणों का 'एक होना' मिलना । इससे अहंकार का नाश होता है ।

फिर भी अनेकों व्यक्ति इस आधारभूत सत्य के तथ्य से अनभिज्ञ हैं । दिन में दो बार वे पानी में डुबकी लगाते हैं; प्रातः, दोपहर और संध्या की धर्म-विधियाँ सम्पन्न करते हैं; गृहदेवताओं की पूजा कर, विभूति या चन्दन से अपने माथे, भुजाओं और वक्ष पर लकीरें खींचते हैं, मुँह पर केसर के तिलक लगाकर, दानों की मालायें व जप-मालायें गले में लपेटकर, एक मंदिर से दूसरे मंदिर में, एक आध्यात्मिक गुरु से दूसरे गुरु के पास भटकते रहते हैं । पवित्र स्थानों की परिक्रमा लगाते हैं; अनेकों उपदेश, पुराण-कथायें और धर्म-ग्रन्थों के पाठ सुनने पहुँच जाते हैं । अधिक से अधिक इनके लिए हम यही कह सकते हैं कि वे शुभ कार्यों में व्यस्त हैं, लेकिन वे भक्त नहीं कहलाये जा सकते ।

वेश-भूषा और वाणी का भक्ति से सम्बन्ध नहीं है । केवल वस्त्र और धर्म की बातें करने के आधार पर ही हम किसी व्यक्ति को "भगवान् का भक्त" नहीं मान सकते । भक्ति आंतरिक चैतन्य भावना का विषय है, बाह्य आचरण या

व्यवहार विषय नहीं है । जहाँ धुवाँ होगा वहाँ अग्नि होगी ही । फिर भी अग्नि के कुछ ऐसे प्रकार हैं जिनसे धुवाँ नहीं निकलता । लेकिन हर प्रकार का धुवाँ अग्नि से ही उत्पन्न होता है । कार्यों का बिना भावना के किया जाना सम्भव है; लेकिन तुम यह नहीं कह सकते कि सब भावनाओं को बाह्य दिखावट द्वारा प्रदर्शित करना ही चाहिए । बिना आडंबर और प्रदर्शन के भी सच्ची भावनाओं का होना सभव है, शुद्ध भावना ही मुख्य वस्तु है, दिखावटी आडंबर से भरे कार्य वास्तविक उन्नति चाहने वालों के लिए निश्चित रूप से हानि-कारक हैं ।

अर्जुन के प्रश्नों का आगे और उत्तर मिला : यथार्थ में दो भिन्न प्रकार के भक्त होते हैं, सगुण-भक्त ओर निर्गुण-भक्त । भक्तों में आर्त (दुखी) अर्थार्थी (निर्धन) और जिज्ञासु यह सब सगुण, साकार रूप परमात्मा के लिए उत्कंठित रहते हैं । जिस प्रकार प्रत्येक शुभ कार्य के लिए दाहिना पैर प्रथम आगे रखा जाता है, निर्गुण भक्ति का दाहिना पैर मोक्ष प्राप्ति के लिए अवश्य उपयोग में लाना चाहिए । वह 'सर्वदा शुभ' है । इसका तात्पर्य है कि परमात्मा के निराकार रूप की साधना केवल प्रकाश दे सकती है । दोनों अवस्थायें बहुमूल्य और अनिवार्य हैं । कोई व्यक्ति कब तक एक पैर अन्दर और दूसरा बाहर रख सकता है ? यदि ऐसा सम्भव है तो भी उससे क्या लाभ ? इसलिए सगुण भक्ति को साधना के लिए और निर्गुण भक्ति को लक्ष्य समझकर ग्रहण करना चाहिए ।

या तो तुम पूर्ण विश्व को विश्वेश्वर रूप समझो या विश्व और विश्वेश्वर इन दोनों को अलग और भिन्न समझो । किन्तु सत्य तो यह है कि दोनों ही एक हैं । तुम चाहे कपड़े को 'सूत्र' या 'सूत्र और कपड़े' दोनों का अस्तित्व अलग-अलग देखो । और फिर चाहे तुम इसे समझो या न समझो, सूत्र कपड़ा ही है; कपड़ा सूत्र ही है ।

यह भक्ति ऐसी वस्तु नहीं जिसे कहीं बाहर से मँगाया जा सके, यह किसी से ली नहीं जाती । यह न तो पृथ्वी से उत्पन्न होती है न आसमान से गिरती है । यह तो परमात्मा के लिए निःस्वार्थ आसक्ति है जो कि व्यक्ति के अंतःकरण में स्फुरित होती है । मनुष्य में अन्तर्निहित जो प्रेम व आसक्ति है उसे भिन्न दिशाओं में निरर्थक नहीं बहना चाहिए उसे बिना रुकावट परमात्मा की ओर ही बहना चाहिए तभी वह भक्ति बन जाती है । यह प्रेम सब प्राणियों में है : पक्षी, पशु, कीटाणु,

कीडे मकौडे प्रत्येक में उचित ही उतनी ही मात्रा में प्रेम भरा है और इनको प्रेरणा देता है । संक्षेपमें, जीवन प्रेम है, प्रेम ही जीवन है ।

जीवधारियों के प्रत्येक वर्ग का सदस्य अपनी संतान के प्रति विविध प्रकार से प्रेम व्यक्त करता है । माता-पिता उसकी रक्षा करते हैं, आशवासन देते हैं, उनके खाने पीने का सुख और मनोरंजन का ध्यान रखते हैं । प्रत्येक प्रकार के प्रेम या मोह का जिस वस्तु पर लगाव है उसके अनुसार उसका भिन्न नाम होता है । बच्चे के प्रति स्नेह को वात्सल्य, जीवन साथी के लिए सम्मोहन, निर्धनों के लिए सहानुभूति, बराबर वालों के लिए मित्रता, वस्तु या जगह के लिए होने से आसक्ति, किसी अन्य अवस्था में इसे आकर्षण, किसी और में मित्रता कहते हैं । यह आसक्ति अपने से बड़े, शिक्षक या माता-पिता की ओर होने से श्रद्धा, नम्रता इत्यादि कहलाती है ।

किन्तु भक्ति शब्द का उपयोग भगवान् में अनुरक्ति होने के सम्बन्ध में ही किया जाता है । जब यह प्रेम विभिन्न धाराओं में विभक्त होकर, अलग-अलग दिशाओं में और भिन्न वस्तुओं की ओर बहने दिया जाता है, तब व्यक्ति उससे कष्ट ही पाता है क्योंकि फिर वह क्षणिक और नाशवान् वस्तुओं में ही रुका रहता है ।

इसके बदले प्रेम को एकाग्रता से भगवान् के अनुग्रह सागर की ओर ही बहने दो, ऐसी साधना भक्ति कहलाती है । संसार के खारी दलदल में जीवन व्यर्थ बरबाद क्यों करना ? इससे तो अनुग्रह के विस्तृत समुद्र की ओर पहुँचने का प्रयास करो । वहाँ तुम अपने को पहचान लोगे, तुम सत्-चित्-आनन्द प्राप्त कर लोगे । कितनी पवित्र है यह परिपूर्णता ! कितना परम आनन्द है इसमें !

गोपिकाओं ने अपने प्रयत्नों द्वारा इस साधना में सफलता प्राप्त की थी । प्रत्येक क्षण, प्रत्येक परिस्थिति में उनका प्रत्येक विचार, शब्द और क्रिया भगवान् श्रीकृष्ण के चरण कमलों में समर्पित थी । इसीलिए गोपिकाओं को 'योगी' कहा गया है । जब स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण गोपिकाओं को योगी कहते हैं तब इससे तुम अनुमान कर सकते हो कि उन्होंने कितनी उच्चकोटि की आध्यात्मिक साधना प्राप्त कर ली होगी ।

बाइसवाँ अध्याय

कृष्ण के उत्तरों से सम्बन्धित प्रश्न अर्जुन ने और भी किये । भगवान् के सगुण रूप उपासकों के गुणों का वर्णन करते हुए अर्जुन ने कहा कि "जिनमें ऐसे गुण हैं वे ही योगी होते हैं यह जानकर मुझे खुशी हुई । लेकिन जिस प्रकार सगुण उपासकों के गुण हैं, उसी प्रकार भगवान् के निर्गुण उपासकों के भी गुण होंगे जिनसे उन्हें पहचाना जा सके । कृपया मुझे उसके बारे में बताइये, मैं जानना चाहता हूँ"।

यह सुनकर सौन्दर्यमूर्ति नन्दकुमार ने उत्तर दिया "अर्जुन ! निर्गुण के उपासकों को अपनी इन्द्रियों पर पूर्ण नियंत्रण करना होगा । दूसरे, उन्हें अपनी परिस्थितियों से अप्रभावित रहना चाहिये । तीसरे उन्हें दुखियों की सेवा करनी चाहिये । अक्षर (अमरत्व) के उपासकों का यही स्वभाव होगा ।"

पाठक इससे यह निष्कर्ष लगा सकेंगे कि भगवान् के सगुण और निर्गुण या अक्षर रूप के उपासकों के सब गुण समान ही है । कृष्ण का उत्तर सुनकर अर्जुन को अतिशय आनन्द हुआ । उसने विस्मित होकर कहा, "मैं इस विषय को स्पष्ट रूप से समझ गया हूँ । लेकिन मैं आप से यह जानना चाहता हूँ कि इस मार्ग पर आगे कैसे जाऊँ और भगवान् की कृपा प्राप्ति के लिये क्या करूँ ? फिर वे भगवान् के चरणों में गिर गये । नारायण ने नर को (अर्जुन को) उठा कर खड़ा होने में सहायता करते हुए कहा, "अर्जुन ! तुम्हें अब इन दोनों में से किसी के भी गुण प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं है किन्तु इन दोनों से भी सरल एक मार्ग मैं तुम्हें बताऊँगा जिसके अनुसरण से तुम्हें मेरी कृपा अवश्य ही प्राप्त होगी ।

"यह है वह मार्ग : अपना मन और बुद्धि मुझमें स्थिर करो । यदि ऐसा न कर सको और इसे असाध्य समझो तो अपना अहंकार त्यागकर धर्मानुरूप और पवित्र कार्य करो । यदि यह भी कठिन लगे तो अपने सब कर्मों के फलों का मोह त्याग कर उन्हें "कृष्णार्पणम्" मुझे समर्पित कर दो । अपने कर्मों का समर्पण वाचिक व्यायाम मात्र नहीं होता । ऐसा समर्पण शब्द, कर्म और विचार द्वारा जिसे लोग मनसा-वाचा-कर्मणा कर्म कहते हैं, सावधानी पूर्वक करो ।

"क्या तुम इसे भी अपनी शक्ति के परे समझते हो ? तब तुम्हें इसके एक अन्य उपाय से अवगत कराया जाएगा ।" इतना कहकर कृष्ण कुछ देर तक चुप हो गए ।

इस पर ध्यान दो । अनुग्रह चाहने वाले को केवल कर्म पर ही ध्यान देना चाहिए, उसके अच्छे या बुरे परिणाम पर नहीं । इसलिए गोपाल ने कहा कि ज्ञान अभ्यास से श्रेष्ठ है, ध्यान ज्ञान से श्रेष्ठ है । और अपने कर्म-जनित परिणाम के मोह का त्याग ध्यान से भी श्रेष्ठ है । ऐसी विरक्ति ही शान्ति प्रदान करेगी," कृष्ण ने कहा । "भक्ति और द्वेष, अग्नि और पानी की तरह हैं, अनुरक्ति और तिरस्कार दोनों साथ नहीं रह सकते । मुझे वे प्रिय हैं जो शोक और आनन्द, स्नेह और घृणा, अच्छा या बुरा सब को समान ही समझते हैं । किसी भी रूप में, कितनी भी कर्म घृणा का हृदय में होना भक्ति नहीं कहलाएगी । भक्त को यह निश्चित विश्वास होना चाहिये कि यह सब "वासुदेव सर्वम् इदम्" है । तात्पर्य यह है कि स्वयं की ही आत्मा सर्वत्र और सब में है, इस सत्य का ज्ञान प्राप्त करना । इसे आचरण में उतार कर ही अनुभव करना चाहिए । दूसरों के लिए घृणा से भर जाना स्वय से घृणा है, दूसरों को धिक्कारना स्वयं का ही अपमान करना है, दूसरों को लाँघना, त्यागना स्वयं को ही कलंकित करना है" कृष्ण ने कहा ।

पाठकों को इस विषय पर शायद एक सन्देह व्याकुल करेगा । क्या दूसरों के लिए घृणा और अनादर मात्र के न होने से "वासुदेव सर्वम् इदम्" के सत्य की चेतनता प्राप्त हो सकती है ? नहीं, घृणा इत्यादि की अनुपस्थिति मात्र से न तो "आत्मनिवासी" भगवान् और न उनके साक्षात्कार के ज्ञान का आनन्द प्राप्त हो सकता है । भगवान् की कृपा इतने से ही प्राप्त नहीं होती । अनाज बोने वाला किसान इसका उदाहरण है । इस पर ध्यान देने से, सत्य को जान लोगे, सन्देह दूर हो जायेंगे । जमीन में बीज बोने के पूर्व किसान सब जंगली उपज, झाड़ी, छोटे पेड़ और घास-फूस इत्यादि निकाल देता है । लेकिन अनाज घर लाने के लिए इतना ही पर्याप्त नहीं है । जमीन में हल चला कर उसके विभाग करके, पानी देकर बीज बोने के लिए उसे तैयार करना होगा । तब फिर अंकुरों का पोषण और रक्षण, उनके बढ़ने और पकने पर उस अन्न की उपज को इकट्ठा कर खत्ती में भरना होगा ।

इसी प्रकार स्नेह, घृणा, ईर्ष्या, घमण्ड इत्यादि की कंटीली झाड़ियों को हृदय-प्रदेश से उखाड़ कर (खेत) क्षेत्र को अच्छे कार्यों से जोतना होगा । उस में आनन्द रूपी पौधे लगाने होंगे और उन बढ़ते पौधों को सावधानी पूर्वक नियमितता और श्रद्धा से पोषण करना होगा । अन्त में इन सब प्रयत्नों के परिणामस्वरूप

आनन्द की फसल से तुम्हारी बखारी भर जायेगी ।

हृदय से केवल घृणा को निकाल देने से आनन्द प्राप्त नहीं होता । प्रेम की भी वृद्धि करनी होगी । अर्थ है कि घृणा निकाल दो, प्रेम का रोपण करो । यदि केवल घृणा की अनुपस्थिति से भक्ति मिलती हो तो भूमि और बल्मीक, वृक्ष और टहनी, कीचड़ और पहाड़, इन्हें किससे घृणा है ? वे किसी का तिरस्कार नहीं करते, लेकिन इसलिए क्या हम उन्हें भक्त कह सकेंगे ? नहीं, क्योंकि यह हास्यास्पद होगा । भक्त को प्रथम घृणा रहित हो, प्रेममय हो जाना चाहिए । इसके अलावा, उसका प्रेम, दरिद्र और पीड़ित की सेवा द्वारा व्यक्त होना ही चाहिये । गोपाल ने यह सूचित किया ।

अर्जुन यह सब बहुत ही ध्यान से सुन रहा था । अब उसने पूछा, "कृष्ण ! क्या यह तीन ही पर्याप्त हैं ? या और भी हैं जिनका अभ्यास करना और आचरण में उतारना होगा । कृपा कर बतलाइये ।" कृष्ण ने उत्तर दिया, "पौधे का बोना मात्र ही पर्याप्त नहीं, क्षेत्र को सींचना और खाद भी देना होता है । घृणा को हटाना और प्रेम का रोपण प्रथम कार्य है । अंकुर फूटते ही, निर्ममकार और निरहंकार, इन दो विधियों का पालन करना होता है जो कि सींचने और खाद देने की तरह है । आनन्द की उपज के लिए दोनों आवश्यक हैं ।

तात्पर्य है कि तुम्हें "मेरा" और "मैं" की भावना का त्याग करना होगा । वे भिन्न नहीं हैं, पहला दूसरे में उत्पन्न होता है और दोनों के अस्तित्व का कारण अज्ञान है, अर्थात् यह मूल सत्य से अनभिज्ञता है । क्योंकि अज्ञान के एक बार के हटाने से 'मैं' और "मेरी" की भावना दुःख नहीं देगी । फिर इनके लिए व्यक्ति में स्वीकृति नहीं होगी । इसलिए नियम बना है कि भक्ति के आकांक्षी को सतत सन्तुष्ट रहना चाहिए । इसका अर्थ क्या है ? चाहे स्वस्थ हो या अस्वस्थ, हानि हो या लाभ, शोक हो या आनन्द, हर परिस्थिति में सतुष्ट रहना. यही इसका अर्थ है । अपनी इच्छा पूर्ण हो या न हो, चित्त की स्थिरता और सन्तुलन नहीं खोना चाहिये ।

"अपने लिए बनाये मार्ग में जरा सा भी विघ्न आने से मन अपना सन्तुलन खो देता है । मन कितना अस्थिर है । समय पर यदि एक प्याली कॉफी भी न मिले, सप्ताह में दो सिनेमा न देख पायें, रेडियों के सामने देर तक सुबह व शाम दोनों बार

न बैठ सकें, यही नहीं अन्य और भी छोटी-छोटी इच्छाएँ पूर्ण न हो सकें या उनमें विघ्न आये तो तुम असन्तोष से घिर जाते हो । सन्तुष्ट मन की ऐसी अवस्था है जो कि किसी भी इच्छा की पूर्ति या अपूर्ति से किसी घटना के होने या न होने से अप्रभावित रहता है । बिना किसी उत्तेजना या निराशा के मन को शांत रहना ही चाहिये ।"

अर्जुन ने तब पूछा, "हे भगवन्! आप प्रायः प्रकृति और पुरुष की चर्चा करते रहते हैं; मुझे यह जानने की बहुत उत्कंठा है कि यथार्थ में प्रकृति, उसके लक्षण और उसका स्वभाव क्या है?" इस सवाल का उत्तर कृष्ण ने सरल और सुलभ तरीके से दिया । "अर्जुन! प्रकृति का एक और नाम भी है । उसे क्षेत्र भी कहते हैं, प्रकृति का अर्थ है यह प्रपंच, जो इन पांच तत्वों का संगठन है । इस प्रपंच या प्रकृति में दो सत्तायें हैं । एक जड़ और दूसरी चैतन्य है । कहने का अर्थ है कि एक तो दीखता है और दूसरी द्रष्टा है, जानने वाला "अहम्" है और जाना गया वह, इदम--"मैं" और "यह" है ।

प्रकृति गुणों का समूह है । तमस् (भ्रम), रजस् (शोक) और सत्व (आनन्द) ये प्रकृति के गुण हैं; प्रकृति तो इन गुणों का परिवर्तनशील समूह है । इसी प्रकार कर्त्ता और भोगने वाले कर्तृत्व और भोक्तृत्व गुण हैं ।

अर्जुन प्रश्न करते रहना चाहता था । इसलिए कृष्ण ने कहा, "मेरे प्रिय बन्धु, क्या और भी प्रश्न पूछने की तुम्हें उत्सुकता है?" मौका देखकर अर्जुन ने पूछा, 'कृष्ण! तुमने प्रकृति तत्व या प्राकृतिक सिद्धान्त तो समझा दिया है । अब मुझे यह जानने की बहुत इच्छा है कि पुरुष के क्या अर्थ हैं, उसके लक्षण और स्वभाव इत्यादि क्या है?"

'अर्जुन!" कृष्ण बोले, "तुम चाहे पुरुष कहो या क्षेत्रज्ञ या ज्ञय, जो भी कहो सब एक ही हैं । क्षेत्रज्ञ वह है जो क्षेत्र को जानता है । ज्ञेय वह जिसे जाना जाता है । पुरुष जीव है और प्रकृति देह है । देह ही पुरुष है जो शरीर को जानता है । देह के भी अनेक नाम हैं जिनके महत्वपूर्ण अर्थ हैं । इनको शरीर कहते हैं क्योंकि वह नष्ट हो जाता है; देह क्योंकि वह जलाया जा सकता है । जीव इसलिए कहते हैं कि वह शरीर को संचालित करता है व उसकी परिमितता का उसे बोध है ।

इस उत्तर को सुनकर अर्जुन फिर सन्देह में उलझ गया, इसलिए उसने अन्य प्रश्नों का क्रम बांध दिया : "कृष्ण ! क्षय व नाशवान् होने वाले शरीर को क्षेत्र नाम क्यों दिया गया ?" वास्तव में अर्जुन एक चतुर श्रोता था । कृष्ण ने बड़े धीरज से उसको उत्तर दिया ।

कृष्ण ने प्रकट किया : इसी शरीर के द्वारा अनेक परोपकारी कार्य कर, श्रेष्ठता प्राप्त होती है; शरीर ही ज्ञान उपार्जन या विश्वव्यापक दृष्टिकोण की प्राप्ति का साधन है । शरीर ही तुम्हें मोक्ष की ओर अग्रसर करता है । यह इतने महान् कार्यों का भण्डार होने के कारण क्षेत्र कहा जाता है । क्षेत्र का अर्थ कवच है, क्योंकि यह जीव हानि से रक्षा और चौकसी करता है । दूसरा महत्वपूर्ण अर्थ है : 'खेत', जो भी बीज या पौधा खेत में बोया जाता है उसके गुण और उत्तमता पर ही फसल निर्भर है । शरीर खेत है, जीव क्षेत्रपालक है, खेत और फसल का संरक्षक है । श्रेष्ठ कार्यों के बीज बोने से आनन्द और सुख की प्राप्ति होती है । पाप के बीज बोने से शोक और चिन्ता की फसल प्राप्त होती है । ज्ञान के बीज बोने वाले को मोक्ष या जन्म-मरण के बन्धन से मुक्ति मिलती है । जिस प्रकार किसान खेत का स्वभाव और गुण जानता है, क्षेत्रज्ञ या जीव को अपने शरीर के स्वभाव व गुण को जानना ही चाहिए । क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ में एक अक्षर 'ज्ञ' का ही फर्क है । जिसका अर्थ है 'ज्ञान' : वह जो जानता है, अनुभव करता है । इस प्रकार जो खेत या शरीर की उत्तमता और त्रुटियों को जानता है वह क्षेत्रज्ञ है । और जो स्थूल व भौतिक पदार्थ हैं जिसमें ज्ञान नहीं है उसे क्षेत्र कहते हैं ।

"कृष्ण" ! अर्जुन ने पूछा, "इन दोनों सत्ताओं : क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ को जानने से क्या लाभ है ? कृष्ण हँसने लगे, बोले, "कितना मूर्खतापूर्ण प्रश्न है ? क्षेत्र के बारे में पूछ-ताछ और उसके स्वभाव को समझने से व्यक्ति का शोक नष्ट हो जाता है, क्षेत्रज्ञ के स्वभाव को समझने से आनन्द या परमसुख की प्राप्ति होती है । इस आनन्द का नाम मोक्ष भी है" ।

इतना कहकर कृष्ण चुप हो गये । लेकिन अर्जुन ने जो कि श्रेष्ठ और हीन प्रवृत्तियों के युद्ध-क्षेत्र में मनुष्य मात्र का प्रतिनिधि है, और भी प्रश्न पूछा, "कृष्ण ! यह कौन है, जिन्हें इन दोनों, शोक-नाश और परमसुख प्राप्ति का अनुभव होता है ? यह क्या जीव है या देह ? कृपया स्पष्ट समझाइये" ।

कृष्ण ने उत्तर में कहा, "अर्जुन! क्षेत्र या शरीर का सम्बन्ध तमस्, रजस और सत्व गुणों से है । जीव जब इसके संपर्क में आता है, तब अपने को शरीर से एक रूप समझकर कल्पना करता है कि वह शोक और आनन्द का, जो गुणों के कारण उत्पन्न हुए हैं, वह स्वयं अनुभव कर रहा है । पुरुष अथवा क्षेत्र का गुणों से कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं है । वह तो साक्षी मात्र है । जब लोहा अग्नि के सम्पर्क में आता है, तब उसमें जलाने की शक्ति आती है; केवल लोहा नहीं जला सकता, अग्नि ही जलाती है । प्रकृति के सम्पर्क में आने से ही पुरुष कर्त्ता और अनुभव करने वाला प्रतीत होता है ।

शरीर जो कि गुणों का रथ है और चूँकि जीव उसमें रहता है, इस लिए यह समझना कि शोक और आनन्द भी उसी को हो रहा है, उचित नहीं है । पृथ्वी सहारा देती है और बीज को बढ़ाकर वृक्ष बनाने में सहायता पहुँचाती है अथवा उसका नाश करती है । पृथ्वी के गुण ही इन दोनों का कारण है । इसी प्रकार जीवतत्व का बीज बढ़ता है शरीर में, जो कि पृथ्वीतत्व है, और ब्रह्मतत्व होकर खिल उठता है । जिस प्रकार खाद और पानी वृक्ष के खिलने का फल उत्पन्न करने के लिए आवश्यक हैं, सत्य, शांति, शम और दम आत्मा के लिए आत्मिक ज्ञान में प्रस्फुटित होने के लिए आवश्यक हैं । प्रकृति के विभिन्न स्वरूप का कारण उसके गुण हैं ।

इस एक विषय पर विचार करो तब सम्पूर्ण समस्या हल हो जायेगी । कभी मनुष्य प्रसन्न दीखता है तो कभी दुखी, किसी क्षण कायर हो जाता है तो दूसरे क्षण साहसी । क्यों ? इसलिए कि गुणों ने ही मनुष्यों को ऐसा बना रखा है । क्या इसे तुम अस्वीकार करते हो ? तब इस प्रकार के परिवर्तनों का कारण तुम और किस प्रकार स्पष्ट कर सकते हो ? ये गुण ही इस प्रकार एक स्थिति से दूसरी में मनुष्य को बदल सकते हैं । यदि सत्व, रजस्, और तमस् ये दोनों गुण बराबर संतुलित रहें, तो मनुष्य में ऐसा कोई परिवर्तन नहीं होगा । लेकिन ऐसा कभी नहीं होता है । ये हमेशा असंतुलित ही रहते हैं । जब एक गुण प्रधान और दूसरे छिपे होते हैं, तब प्रकृति उससे अनेक पात्रों का अभिनय करवाती है । तीन गुण मनुष्य स्वभाव के तीन स्वरूपों का प्रतिनिधित्व करते हैं । रजोगुण ऐसा मोह है जिसमें इच्छायें उमड़ती हैं; इससे बाह्य पदार्थ विषयक संसार 'जो दीखता है' उसमें आनन्द लेने की उत्कंठा उत्पन्न हो जाती है । शरीरिक और स्वर्गीय आनन्द-प्राप्ति की इच्छा

बढ़ती है । तमोगुण यथार्थ को नहीं समझ सकता है, इसलिए सहज ही भ्रम में पड़कर असत्य को सत्य समझता है ।

मनुष्य इस कारण लापरवाही और भूल कर बैठता है । मुक्त करने के बदले बन्धन में बाँधता है । सत्व गुण. शोक और दुःख के कारण को अपने नियन्त्रण में रखता है । लोगों को सच्चे आनन्द और सुख का मार्ग लेने के लिए उत्साहित करता है । अतः निश्चय-पूर्व इन तीनों से अप्रभावित होना ही पवित्रता और स्थिरता की नींव डालना है ।

लैम्प की चिमनी का काँच स्वच्छ रखो फिर प्रकाश उज्ज्वल ही चमकेगा । एक बहुरंगी काँच लो, तो इसका प्रकाश कम होगा । इसके विपरीत यदि लैम्प को एक मिट्टी के बर्तन में रखोगे तो अन्धेरा जितना था उतना ही रहेगा । लैम्प तो वही है लेकिन जिसमें उसे रखा जाता है, वह प्रकाश को प्रभावित कर देता है । सत्वगुण का लैम्प सफेद काँच की चिमनी में रहने से स्पष्ट प्रकाश देता है । रजोगुण बहुरंगी काँच की चिमनी है जिससे प्रकाश धीमा और कम हो जाता है, और तमोगुण मिट्टी का बर्तन है जिसके अन्दर रहने पर लैम्प एक दम व्यर्थ हो जाता है ।

सत्व गुण आत्मज्ञान है । रजोगुण कुछ मात्रा में धुएँ से मलिन, प्रकाश कम करने वाली चिमनी-सा मैला है जिसमें लैम्प की लौ भी अस्थिर रहती है । तमोगुण ज्ञान के प्रकाश को, जो कि मनुष्य का स्वभाव है, दबा देता है ।

तेईसवाँ अध्याय

सत्व, रजस् और तमस् इन तीनों गुणों का क्रमचय, संचय, सृष्टि, विश्व और प्रकृति के रूप में प्रकट होता है । इसलिए प्रकृति परिवर्तनशील है । यह सत्य है कि वह अचल नहीं है । लेकिन आत्मा, चैतन्य "तेजोरूपम्" है । इसलिए इसमें दोष या रूपांतरण नहीं होता, शरीर प्रकृति है, बुद्धि और मन भी प्रकृति है, इसलिए

एक या दूसरे गुण की अधिकता या कमी के कारण इनमें भिन्नता आ जाती है ।

सत्व गुण स्थिर, शुद्ध, स्वार्थ रहित प्रकाश है । इसलिए जिनमें यह विशिष्ट गुण हैं उन्हें कोई इच्छा या अभाव का अनुभव न होगा । आत्म-ज्ञान प्राप्ति के लिए वे ही उपयुक्त पात्र होंगे । जिनमें रजोगुण होगा वे अहंकार युक्त कार्यों में ही व्यस्त रहेंगे । दूसरे की सेवा करने की इच्छा उन्हें ख्याति और नाम प्राप्ति के लिए और अपनी सफलता का गर्व अनुभव करने के लिए ही होगी । दूसरों की भलाई करते समय उन्हें अपनी भी भलाई की उत्कंठा रहेगी । जो तमोगुणी है वे अज्ञान के अन्धकार से घिर कर मार्ग टटोलते हैं और यह नहीं समझते कि योग्य और अयोग्य क्या है । इन तीनों में से कोई भी एक गुण परमात्मा के साक्षात्कार की योग्यता नहीं दे सकता जिसके द्वारा व्यक्ति सर्वव्यापी परमात्मा में मिल जाए । चूँकि वह प्रकृति से अभिभूत है इसलिए यह विश्वास करता है कि प्रकृति को बनाने वाले गुणों को वह स्वयं अनुभव कर रहा है । लेकिन यह उसका भ्रम है । इस भ्रम को मिटाने के लिए क्षेत्र या प्रकृति के स्वभाव और विशिष्ट गुणों के बारे में अन्वेषण करना आवश्यक हो गया है । नये साधक के लिए आरम्भ में, ज्ञात और ज्ञान के बारे में पूछताछ करना बहुत आवश्यक हो गया है । लेकिन ज्ञानी को इन तीनों गुणों की ओर अधिक ध्यान देना पड़ेगा । जो ज्ञात है वह सत्य है, और सबमें निहित दैवी आधार का अनुभव रूप है ।

यह सब अर्जुन ने बड़े ध्यान से सुना और अन्त में पूछा, "हे भगवन्! ज्ञानी में कौन से गुण होने आवश्यक हैं ?" कृष्ण ने उत्तर दिया, "पार्थ ! उसमें बीस सद्‌गुण पर्याप्त मात्रा में होने चाहिएँ । तुम कदाचित पूछो कि वे क्या है ? मैं उनके बारे में तुम्हें बतलाऊँगा ; सुनो, लेकिन इससे यह मत समझना कि इनको पा लेने से तुम्हें लक्ष्य की प्राप्ति हो ही जायेगी । लक्ष्य अमरता है, अमृतत्व है । वह केवल ब्रह्म साक्षात्कार अर्थात् ब्रह्म के 'सर्वम् खल्विदम् ब्रह्म' अनुभव द्वारा ही प्राप्त हो सकता है । पूर्ण-ज्ञान प्राप्ति होने से ही ज्ञाता और ज्ञेय एक हो जाते हैं ।

इस पूर्णता के लिए स्वयं को सदाचारों द्वारा शुद्ध करना ही पड़ता है । तभी ज्ञेय का अनुभव और साक्षात्कार की प्राप्ति होती है । इसलिए मैं इसके बारे में पहले बताऊँगा । प्रथम सदाचार, फिर विजय की प्राप्ति ; यह कितने महत्व का मार्ग है, बिना नैतिक और सदाचारी जीवन के ब्रह्म को पाने की इच्छा करना बिना लैम्प,

बाती और तेल के, ज्योति की इच्छा करना है । इन तीनों को प्राप्त करो फिर दीपक को प्रज्वलित करो तब तुम्हें प्रकाश मिलेगा । ब्रह्मज्ञान के प्रकाश या ब्रह्मसाक्षात्कार के लिए भी ऐसा ही है । यहाँ एक विषय पर साधक को बहुत ध्यान देना है । लैम्प, दीपक, बाती और तेल तीनों का उपयुक्त परिमाण होना चाहिए । लैम्प के लिये यदि बाती बड़ी या बहुत ही छोटी हो, बाती के लिए तेल बहुत अधिक हो या बहुत ही कम हो या लैम्प, तेल या बाती के परिणाम से बहुत ही बड़ा या बहुत ही छोटा हो, तो लौ उज्ज्वल प्रकाश नहीं देगी । स्पष्ट स्थिर प्रकाश तीनों में उपयुक्त परिमाण होने से ही मिल सकता है । अधिक से अधिक फल के लिए, मोक्ष के फल के लिए इन तीनों गुणों का होना आवश्यक है । तीनों गुण बन्धन हैं जिनके बँधने से मनुष्य भी उस गाय की तरह है जिसके अगले पैर एक साथ बँधे हैं, पिछले पैर भी एक साथ बँधे हैं, और जिसकी गर्दन और सींग भी तीसरी रस्सी से बँधे हैं ।

ये तीनों गुण, तीन प्रकार के बन्धन हैं । इस प्रकार बाँधने से बेचारा पशु कैसे स्वतंत्र घूम सकता है । सत्वगुण सोने की जंजीर है, रजोगुण ताँबे की और तमोगुण लोहे की जंजीर है, धातु के मूल्य भिन्न होने पर भी इन तीनों बंधनों की जकड़ एक जैसी प्रभावकारी है, बन्धनरूप में तीनों की गति की स्वतन्त्रता के लिए विद्यमान हैं ।

अर्जुन ने पूछा, "हे प्रभु ! आपने कहा था कि ज्ञान का अधिकार पाने के लिए बीस गुण आवश्यक हैं । तो वे कौन से हैं ? कृपया उनको थोड़े विस्तार से बताइये ।" कृष्ण ने कहा, "अर्जुन ! तुम्हारी लगन से मैं प्रसन्न हूँ । सुनो ।

प्रथम गुण है अ-मानित्वम, अहंकार का अभाव, नम्रता । जब तक तुममें अभिमान है तुम्हें ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता । मनुष्य का आचरण पानी की तरह होना चाहिए, पानी में जो भी रंग तुम डालो वह उसी में मिल जाता है । वह अपने रंग को स्थापित नहीं करता । वह अहंकार रहित और नम्र है । लेकिन आज मनुष्य का व्यवहार इसके विपरीत ही है । जब वह थोड़ी-सी भी सेवा करता है या दान में थोड़ा-सा भी कुछ देता है तो उसे औरों को बताने के लिए व्याकुल हो उठता है । इसके लिए या तो खुद ही कहता फिरता या प्रकाशित करवा देता है । ऐसे अहंकार या उत्कट इच्छा का न होना ही अ-मानित्वम् है ।

अब दूसरा अ-दंभित्वम्, मिथ्या अभिमान रहित होना । यह मनुष्य का बहुत

बड़ा गुण है । इसका अर्थ है कपट (छल), आडम्बर, बड़प्पन की बड़ाई शक्तिशाली न होते हुए भी दिखाने की है । सत्ता के न होते हुए भी सत्ता है, यह बताना । यहाँ पाठकों के ध्यान में एक बात आयेगी कि आजकल संसार ऐसे ही मिथ्या आडम्बरी, कपटी लोगों से भरा हुआ है । किसी भी कार्य-क्षेत्र का निरीक्षण करो, जिस किसी को देखो तुम्हें यही भयंकर दोष दीखेंगे, देशों की सरकारें ऐसे लोगों के हाथ में हैं जो शक्ति, अधिकार और योग्यता का ढोंग रचते हैं । जिनमें कोई ज्ञान नहीं और वे अपने को विद्वान् मानते हैं । जिन्हें अपने गृह में भी किसी की मदद नहीं मिल सकती वे असंख्य अनुगामियों के नेता होने का दावा करते हैं ।

प्रत्येक कार्य में कपट इनका पहला कदम है । जिस प्रकार फसल को कीड़ा नष्ट करता है, यह कपट मनुष्य को प्रत्येक क्षेत्र में नष्ट करता है । इसको मिटाने से ही संसार विनाश से बच सकेगा, कपट से तुम इस लोक को और परलोक को भी खो दोगे क्योंकि यह तो हर समय, हर जगह हानिकारक है । साधारण मनुष्य के लिए भी यह उचित नहीं, तब एक साधक को कैसे यह लाभदायक हो सकता है ।

तीसरा गुण अहिंसा है । यह भी एक मुख्य गुण है । हिंसा केवल शरीर से ही सम्बन्धित नहीं होती है, इसका और भी व्यापक अर्थ है ; मानसिक हिंसा जो तुम्हारे कार्य और शब्दों द्वारा दूसरों को मानसिक कष्ट, चिंता और पीड़ा पहुँचाती है । केवल शारीरिक कष्ट औरों को देना बन्द करने से कोई अहिंसात्मक नहीं बनता । तुम्हारे कार्यो से किसी को कष्ट न मिले; निःस्वार्थ भाव से कार्य किए गए हों; तुम्हारे विचार, शब्द और कार्य अन्य लोगों को पीड़ा देने की इच्छा से न किए गए हों ।

फिर क्षमा चौथा गुण है । उसे शान्ति या सहनशीलता भी कहते हैं । इसका अर्थ है कि दूसरों का तुम्हारे प्रति किया गया बुरा बर्ताव, हानि या तुम्हारे प्रति घृणा का होना सब सारहीन असत्य ही हैं, ऐसा समझना । इन सबको मृगतृष्णा ही समझो, तात्पर्य यह है कि तुम्हें उतने ही परिमाण में धीरज या सहनशक्ति बढ़ानी पड़ेगी । इसे बदला लेने की असमर्थता या औरों की तरह लाचार होकर बुराई सहना नहीं कहा जा सकता । यह क्षान्ति जो बाह्य व्यवहार में है, उस शान्ति को

प्रकट करती है जो कि तुम्हारे हृदय पर शासन करती है ।

सत्य है, कुछ लोग शारीरिक, आर्थिक और लौकिक समर्थन के अभाव मे दूसरों के द्वारा दी गई पीड़ा को सहन कर लेते हैं, लेकिन यह कष्ट सहना वास्तविक 'क्षमा' नहीं मानी जाएगी । अब हम पाँचवें पर विचार करते हैं; ऋजुत्वम् यानी सरलता, सच्चाई या शुद्ध हृदय; इसका अर्थ है कर्म, वाणी और विचार जो लौकिक और आध्यात्मिक कार्यों से सम्बन्धित हैं उनका समन्वय; यह चौथे गुण, अ-दंभित्वम् का ही एक पार्श्व है ।

छठा है आचार्योपासना, जोकि आध्यात्मिक गुरु के प्रति आदरपूर्ण सेवाभाव है । इससे शिष्य के प्रति गुरु का स्नेहभाव बढ़ेगा जिससे शिष्य को लाभ होगा । लेकिन लक्ष्यहीन गुरु अपने शिष्य को अधःपतन की ओर ले जायेगा । गौ माता जिस प्रकार अपने नन्हें बछड़े को दूध पिलाकर उसका पोषण करती है, उसी प्रकार गुरु को चाहिए कि वह शिष्य पर अनुग्रह रखे । भगवान् की प्राप्ति और मोक्ष का मूल कारण और सहारा गुरु की शिक्षा ही है । सातवाँ गुण शौच व स्वच्छता है । केवल बाहरी स्वच्छता नहीं किन्तु आन्तरिक शुचिता । यह क्या है? स्नेह और घृणा, इच्छा और संतोष, काम और क्रोध की अनुपस्थिति और दैवी गुणों की उपस्थिति । जल शरीर को शुद्ध करता है; सत्य मन को शुद्ध करता है; ज्ञान विचार-शक्ति को शुद्ध करता है । और मनुष्य की शुद्धि पश्चाताप और नियम-पालन द्वारा होती है । आठवां गुण है स्थिरता, निश्चलता, अचलत्व, धैर्य, अटल श्रद्धा । साधक को चाहिए कि आध्यात्मिक उन्नति के लिए, जिस पर एक बार अपना विश्वास जम गया हो, उसी पर दृढ़ रहे । प्रतिदिन लक्ष्य को बदल कर एक आदर्श से दूसरे आदर्श पर उसे नहीं मानना चाहिए । इसी को दीक्षा भी कहते हैं । चंचलता निर्बलता से उत्पन्न होती है । सावधानीपूर्वक इस दोष से बचना चाहिए ।

इस सूची में इन्द्रिय-निग्रह यानी इन्द्रियों पर नियन्त्रण, नवाँ गुण है । विश्वास रखो कि इन्द्रियाँ तुम्हारे भले के लिए हैं और तुम इन्द्रियों के भले के लिए नहीं हो । इसलिए इन्द्रियों के दास न बनकर, उन्हें अपनी सेविका बनाओ ।

दसवाँ गुण, वैराग्य : त्याग, विरक्ति अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध इत्यादि से अरुचि होना । इन्द्रियाँ इन सबके पीछे भागती हैं क्योंकि इनके संपर्क से उनमें

क्षणिक गुदगुदी (सुख) प्राप्त होती है ।

लेकिन इन्द्रियों को तो श्रेष्ठ प्रकार के धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष में कोई रुचि नहीं होती इसलिए आत्मा की खोज श्रेष्ठ प्रवृत्तियों का अनुसरण करने से ही होती है ।

ग्यारहवाँ गुण है 'अनहंकारम्', अहंकार रहित होना । अहंकार सब पाप और दोषों का पोषण है, अहंकारी व्यक्ति अच्छा या बुरा, योग्य या अयोग्य किसी का आदर, किसी की परवाह नहीं करता और न उनकी अच्छाइयों को समझता है । धर्म और नैतिकता के बारे में यह निपट अज्ञानी होता है, न्याय से वह सहमत नहीं होता । ऐसे विषैले गुण का न होना अहंकारम् है, मित्र के भेष में अहंकार दुष्मन ही है ।

अगले गुण का नाम—जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि-दुःख-दोषानुदर्शनम्, जिसका इतना ही अर्थ है कि—अनिवार्य जन्म-मरण-चक्र, बुढ़ापा और बीमारी, शोक और दुष्टता संसार और सांसारिक जीवन की क्षणभंगुरता की चेतना; यद्यपि इनको अपने और दूसरों से साथ होते हुए देखा जाता है, फिर भी लोग इनके कारण और उनसे बचने के उपायों का पता नहीं लगाते । यह एक सबसे बड़ा रहस्य है और एक आश्चर्य की बात है ।

इस विषय की तह तक जाने से ही तुम समझोगे कि चाहे जिससे बच सकते हो, लेकिन मृत्यु से कदापि नहीं बच सकते । जिसे मनुष्य आज सुख समझता है, वह वास्तव में सुख के आवरण में दुःख ही है । इसलिए इन वस्तुओं के यथार्थ को समझो और अपनी विचार-शक्ति की त्रुटियों पर ध्यान दो, जिससे तुम भ्रम में पड़ जाते हो । ऐसा करने से तुम्हारी विरक्ति दृढ़ हो जायेगी और तुम्हें ज्ञान प्राप्त होगा । इसलिए, हे अर्जुन, अपने को जन्म-मृत्यु, जरा, व्याधि और दुःख से मुक्त करो" । कृष्ण ने यह सब बड़े प्रेम से उसे सावधान करते हुए कहा ।

फिर उन्होंने आसक्ति या अनासक्ति : इच्छाओं को वस्तुओं से हटा लेना, इच्छारहित होने के बारे में बताया । किसी भी वस्तु को देखकर उसे अधिकार में करने की लालसा का कारण अहंकार है । "मुझे यह लेना है," "इस मूल्यवान् वस्तु पर मेरा ही गर्वपूर्ण अधिकार हो", इस प्रकार अहंकार उत्तेजित होता है । एक मजबूत रस्सी की तरह तुम्हें पदार्थों से बाँध देता है । मन को हटा लो और सबको भगवान् की महिमा की अभिव्यक्ति समझो । सब वस्तुओं में भगवान् की ही

प्रतिभा का प्रदर्शन समझकर उनसे प्रेम करो । लेकिन इस भ्रम में न पड़ो कि उनको अपने अधिकार में कर लेने से तुम्हें सुख मिलेगा । उनके लिए ही अपना जीवन समर्पण मत करो, और आवश्यकतानुसार ही उनका केवल उपयोग करो । मुक्ति-पथ पर चलने वालों के लिए वस्तुओं को इस प्रकार पूर्ण अधिकार में लेने की प्रवृत्ति का होना बहुत ही विघ्नदायक है । तुम्हारी जो भी सम्पत्ति है उसे एक दिन छोड़ना ही पड़ेगा । उस दिन अन्तिम यात्रा के समय, अपने साथ तुम एक घास का तिनका या चुटकी-भर धूलि भी नहीं ले जा सकोगे । इस तथ्य को मानसिक दृष्टि के सामने हमेशा रखो, तब तुम वास्तविकता को समझ सकोगे ।

जन्म के पूर्व, इस संसार या इसके भौतिक पदार्थों से किसी का सम्बन्ध नहीं होता, मृत्यु के बाद, वे स्वयं और सब नाते-रिश्तेदार अवश्य हो जाते हैं । यह बसेरा तो मध्यान्तर का खेल मात्र है । इस तीन दिन के मेले से मोहित हो जाना वास्तव में मूर्खता ही है । इच्छायें मन को मलिन कर देती हैं और मनुष्य को उच्च लक्ष्य के योग्य नहीं रखतीं । उन साधकों को जो मुक्ति और आत्म-साक्षात्कार के इच्छुक हैं, इच्छाओं का त्याग करना चाहिए--क्योंकि वे चिकनाई की तरह एक बार लग जाने पर कठिनता से ही छूटती हैं ।

इसके पश्चात् दूसरे गुण पर भी ध्यान देना होगा; वह है समत्वस्थिति; हर्ष, शोक, सौभाग्य और दुर्भाग्य, सुख और दुःख इन सब परिस्थितियों में स्थिरचित् होना चाहिए और निर्विघ्नतः शान्त रहना चाहिए । ज्ञानी का यह पन्द्रहवाँ गुण है । सफलता और हार, लाभ और हानि, मान और अपमान के समय प्रसन्न या खिन्न चित्त होना व्यर्थ ही है । सबको समान रूप से, भगवान् का प्रसाद, उसकी कृपा समझकर स्वीकार करो । काँटेदार जगहों से निकलने के लिए जिस प्रकार तुम जूते पहनते हो, वर्षा से छतरी द्वारा बचाव करते हो, कीड़े-मकोड़े, मच्छरों से बचने के लिए मसहरी के अन्दर सोते हो, इसी प्रकार तुम स्थिर-चित्त-रूपी शस्त्र भी धारण करो और भगवान् के अनुग्रह में विश्वास रख कर--प्रशंसा या निन्दा, पराजय और विजय, आनन्द और कष्ट को समान समझकर सहन करो । जीवन में वीरता से रहने के लिए इस समचित्तत्व को आवश्यक कहा गया है ।

इसके बाद है अनन्य-भक्ति; परमात्मा में अनुरक्ति; बिना किसी अन्य विचार और चेतना के, जब तुम्हें दुख घेर लेता है तब तुम भगवान् के पास दौड़ते हो ।

अत्याधिक संकट पड़ने पर वेंकट भगवान् की शरण लेते हो । जब फिर सुख आता है तब उनको छोड़ देते हो । बुखार होने से जब तुम्हारा स्वाद बिगड़ता है, जीभ कड़वी हो जाती है तब 'चटपटा अचार' खाने की इच्छा होती है; लेकिन बुखार के उतरते ही, पूर्वस्थिति पर आकर, वही अचार तुम्हें उतना अच्छा नहीं लगता । भक्ति एक अल्पकालीन विश्राम नहीं है । यह तो भगवान् का अनन्यचिन्तन है ।

जो भी कार्य, मनोरंजन या वार्तालाप हो वह भगवान् के प्रेम से ही भरा होना चाहिए, यही अनन्य-भक्ति है । इसके बाद आता है एकान्तवास । इसका अर्थ यह नहीं कि शरीर को किसी सुनसान जगह ले जाकर रखा जाये । अपने मन में ही शान्ति और एकांत होना चाहिए, उसके अन्य निवासियों को बलपूर्वक या समझा-बुझाकर बाहर निकालना ही होगा । मन को निर्विषय, रिक्त, बाह्य-पदार्थ-विषयक संसार से विरक्त कर लेना चाहिए ।

अठारहवाँ गुण जो ज्ञानोपार्जन में सहायता देता है वह है मनुष्यों के सपर्क में रुचि का अभाव । इसका अर्थ है कि बाह्य-प्रदार्थ, इन्द्रिय व वस्तु-विषयक सासारिकतालिप्त लोगों से सम्पर्क रखने की इच्छा का न होना । जंगली जानवरों के बीच में शान्ति मिल सकती है, लेकिन सांसारिकता में लीन मनुष्यों के बीच में शान्ति का मिलना कठिन है । संसर्ग का साधना पर गंभीर प्रभाव पड़ता है । सज्जनों से सज्जनता मिलती है । बुरे लोग बुराइयों की ओर खिंच जाते हैं ।

वास्तव में कौन सज्जन है, और कौन दुष्ट है इसका पता लगाना, जिससे सज्जनों का ही संपर्क रह सके, बहुत ही कठिन है । इसलिए अच्छा यही है कि लोगों के सम्पर्क से दूर रहो और साधना पर ध्यान दो । मनुष्य का मन लोहे की तरह हे, यदि वह कीचड़में गिरता है तो जंग लग जाता है और छिन्न-भिन्न होने लगता है । यदि आग में गिरता है तो मलरहित होकर शुद्ध हो जाता है । इस तरह मनुष्य का ज्ञानियों से संपर्क रखना, सुनसान जगह में रहने से अधिक अच्छा है । याद रखो किस प्रकार नारद, जो एक दासीपुत्र था, अच्छी संगति मिलने से ऋषि हो गया । और रत्नाकर जो कि एक क्रूर शिकारी था, सप्तर्षियों की संगति से "आदि कवि" बन गया । बुरी संगति अत्यधिक हानिकारक है । अग्नि की ज्वाला से अधिक हानिकारक एक लोहे का लाल प्रज्वलित गोला होता है । पाप से अधिक पाप-कर्म में लिप्त मनुष्य के संपर्क से बचना चाहिए । साधकों की कैसी संगति

है, इसकी सावधानी रखनी चाहिए ।

उन्नीसवाँ गुण है "आत्मा और अनात्मा" की भिन्नता का ज्ञान । अपनी चेतनता को आत्मिक सत्य पर सदा स्थिर रखो । और शरीर और इन्द्रियों को असत्य और क्षणभंगुर समझकर मन से हटा दो । आत्मा सनातन है इसलिए अपने को इसी में स्थिर करो, न कि क्षणिक अनात्मिक भ्रम या पदार्थों में । जीवन इस पीछा करने वाले भ्रम पर विजय पाने के लिए एक संघर्ष है । तुममें और सबमें मैं ही अन्तर्भूत अनन्त आत्मा हूँ । इसलिए मुझ में अपना ध्यान स्थिर करो और अपनी विजय में विश्वास रखकर संघर्ष में लग जाओ ।

बीसवाँ और अन्तिम गुण जिसे प्राप्त करना है, वह है "तत्व-ज्ञानदर्शनम्" "तत्" (वह) जो सर्वव्यापक सिद्धान्त है उससे सत्य स्वरूप का दर्शन । व्यक्ति केवल उसका प्रतिबिम्बमात्र ही है । इसका मतलब है कि साधक को विश्वव्यापक की अनुभूति करने की उत्कट इच्छा होनी चाहिए । पूर्व उल्लिखित इन बीस गुणों में से यदि दो या तीन भी अपनाने का सच्चा प्रयत्न किया जाये तो आकांक्षी को दूसरे गुण तो अपने आप ही प्राप्त हो जायेंगे । उनको पाने के लिए कोई विशेष प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं पड़ती । इस पथ पर अग्रसर होने से केवल बीस ही नहीं किन्तु और भी अधिक संख्या में गुण मिलते जायेंगे । यहाँ केवल बीस ही गुण इसलिए बताये गये हैं क्योंकि ये प्रमुख गुण हैं । इन गुणों पर आधारित साधना साधक को सरलता से लक्ष्य पर पहुँचाती है । इसलिए कृष्ण ने इनको अधिक महत्व दिया है ।

इन साधनों द्वारा व्यक्ति आत्म-ज्ञान प्राप्त कर सकता है, इसमें कोई सदेह नहीं है, इन गुणों के द्वारा ही यह ज्ञान प्राप्त होता है कि शरीर, इन्द्रियाँ, बुद्धि, आन्तरिक चेतना--सब प्रकृति-सम्बन्धी हैं और परमात्मा, जो इससे पृथक् हैं, पुरुष है । पुरुष वह है जिसे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का ज्ञान है । जब कोई व्यक्ति पुरुष और प्रकृति, अर्थात् क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का अन्तर पहचानने लगता है तब वह केवल 'साक्षी' भाव में प्रतिष्ठित होकर सब अभावों और इच्छाओं के बन्धन से मुक्त हो जाता है ।

चौबीसवाँ अध्याय

सब की साक्षी रूप केवल एक सत्ता की चेतना ही आत्मसाक्षात्कार का रहस्य है । आत्मसाक्षात्कार अर्थात् यह ज्ञान कि "परमात्मारूप सत्य मैं हूँ" अथवा "मैं अपने परमात्मारूप को जान गया" अथवा "सब एक ही आत्मा हैं" अथवा "व्यक्ति और विश्वव्यापी भिन्न नहीं हैं यह अनुभव मैंने कर लिया"। प्रत्येक व्यक्ति को स्वयं इसकी शोध करनी है । मनुष्य केवल पशु नहीं है, उसमें दिव्यता की चिनगारी है जिसे बुझाकर नष्ट नहीं होने देना चाहिए ।

यही नहीं, इन्द्रियाँ भी आत्मा की उपस्थिति के कारण कार्य करती हैं । सूर्योदय होते ही पक्षी उड़ने लगते हैं, फूल खिल उठते हैं, मनुष्य विभिन्न कार्यों में व्यस्त होते हैं । सूर्य केवल प्रेरणा देता है, स्वयं प्रत्यक्ष कोई काम नहीं करता । सूर्य कारण नहीं है, वह संचालन करने वाला है, द्रष्टा है, वह सबसे परे और श्रेष्ठ है । मनुष्य, पशु या पक्षी न तो उसके आधार हैं और न वह इनके बंधन में हैं ।

पक्षी आसमान में उड़ते समय, मार्ग में अपनी उड़ान का कोई चिन्ह नहीं छोड़ते । इसी प्रकार आंतरिक हृदयाकाश में अपने इन्द्रिय-ज्ञान के आते-जाते अनुभवों के चिन्ह नहीं रहने देने चाहिए । इस प्रकार हृदय पर अनुभवों के आवागमन का प्रभाव नहीं पड़ना चाहिये ।

किन्तु मनुष्य आधार नहीं देखता केवल निर्माण देखता है । कोई भी माला में फूलों को एकत्र रखने वाले धागे को नहीं देखता है । धागे का अस्तित्व तो पूछ-ताछ और शोध द्वारा ही मालूम पड़ सकता है । आधार धागा है, माला में फूलों को वही एकत्रित रखता है ।

इसे स्पष्ट करने के लिए एक और उदाहरण लो । घड़े, गमले आदि सब मिट्टी के बने हैं, इन सब में मिट्टी है, फिर भी मिट्टी स्वतः में केवल मिट्टी ही है । वह घड़ा ही हो ऐसा नहीं है । इसी प्रकार आत्मा जो कि आधार है उसमें इन मिट्टी के बर्तनों जैसा कोई गुण नहीं किन्तु गुणों में, आत्मा गुणस्वरूप होकर प्रतिष्ठित है ।

परिमितता, नाम और रूप का मिथ्यारोपण ही आत्मा को गुण समझने की भूल करवाता है । जिस प्रकार मिट्टी के बर्तनों में मिट्टी दृढ़ जमी है उसी प्रकार सब नाम और रूप में सत्यरूप केवल आत्मा ही है । इस प्रकार विवेचन से यह विश्वास कि सब का आधार और तत्व आत्मा या क्षेत्रज्ञ या परमब्रह्म है, दृढ़ हो जाता है ।

तब अर्जुन ने कृष्ण से पूछा, "सब में निहित उस आधार रूप आत्मा को, उस अन्तरवर्ती सत्य को समझना वास्तव में बहुत ही कठिन है । वह सर्वत्र होते हुए भी दीखता क्यों नहीं ! वह सब का अन्तर्भाग होते हुए भी सम्पर्क से परे क्यों है। इस रहस्य का कारण क्या है" ।

कृष्ण ने उत्तर में कहा, "अर्जुन ! तुम अभी समझे नहीं हो ! आत्मा सूक्ष्मतम से भी सूक्ष्म है इसलिए उसे जानना कठिन है । पंचतत्वों के बारे में तुम जानते हो ? पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश ? इनमें प्रत्येक तत्व क्रमशः पूर्वोक्त तत्व से अधिक सूक्ष्म है । पृथ्वी के पाँच गुण हैं : शब्द, स्पर्श, रूप, रस और ग्रन्थ । जल में गंध के सिवाय अन्य सब गुण हैं । अन्त में आकाश है जिसका गुण केवल शब्द है । इस प्रकार प्रत्येक तत्व पहले तत्व से अधिक सूक्ष्म और अधिक व्यापक है । आकाश सर्वत्र, सब में सर्वव्याप्त है क्योंकि उसमें एक ही गुण है । तब विचार करो कि आत्मा जो गुणरहित है, वह कितना सूक्ष्म होगा, कितना सन्निहित और सर्वव्यापी होगा । बाह्य पदार्थों में लिप्त लोग इस घटना को नहीं समझ सकते । आत्म-दृष्टि वाले ही इसे जान सकते हैं । विचार शक्ति के उपयोग से ही इसमें श्रद्धा दृढ़ हो सकती है । कुछ लोग कहते हैं कि भगवान् को सब नहीं देख सकते इसलिए भगवान् सर्वत्र और सब में सन्निहित नहीं हैं । जिन तुच्छ गुणों से वे भगवान की समता करना चाहते हैं भगवान् उनके बहुत परे और ऊँचे हैं । यह एक दयनीय बात है कि जितने तुच्छ ऐसे व्यक्तियों के विचार हैं उतने ही तुच्छ वे स्वयं हैं । यह उनका दुर्भाग्य है । यह दृढ़ नियम है कि भगवान् तुम्हारे निकट उतने ही होते हैं जितने कि तुम उनके निकट होते हो, यदि तुम दूर रहोगे तो वे भी तुम से दूर रहेंगे ।

पुराणों में इस सत्य के कुछ सुन्दर उदाहरण हैं । हिरण्यकश्यपु ने भगवान् को सर्वत्र खोजा और तत्पश्चात् इस निर्णय पर आया कि भगवान् कहीं नहीं हैं । दूसरी ओर, प्रह्लाद का विश्वास था कि भगवान् को जहाँ खोजोगे वहीं पाओगे और इसी कारण लोहे के एक अभेद्य कठोर स्तम्भ से भगवान् प्रकट हुए! प्रह्लाद भगवान् के निकट था इसलिए भगवान् उसके निकट थे । पौष्टिक और पवित्र दुग्ध गाय के थन में रहता है । लेकिन गाय धोए गए चावलों के पानी की ओर दृष्टि डालती है । इसी प्रकार मनुष्य अपने में, अपने आत्मा-रूप निज सत्य-स्वरूप माधव को

जानने का प्रयत्न नहीं करता । दूषित और छलपूर्ण इन्द्रियों के कारण क्षण-भंगुर वस्तुओं से मिलने वाले तुच्छ आनन्द की ओर मनुष्य जाता है । इससे बढ़कर अज्ञान और क्या हो सकता है ?

अनेकता में रमना अज्ञान है, सब में एक आत्मा को देखना ज्ञान है । 'शवम्' अर्थात् जो सत्यानुभव के लिए मृत हैं वे ही अनेकता देखते हैं । किन्तु 'शिवम्' अर्थात् जो दिव्यरूप हैं वे अनेक में 'एक' हैं । अर्जुन को इस आनन्द का अनुभव कराने हेतु कृष्ण ने यह उपदेश दिया ।

पाठको ! जिस प्रकार नदियों का लक्ष्य समुद्र है, उसी प्रकार जीव का लक्ष्य ब्रह्म है । 'चेतन जीव' को स्थूल पदार्थों से स्थायी सुख कभी नहीं मिल सकता । मोक्ष ही स्थायी आनन्द की प्राप्ति है जिसे ब्रह्म की प्राप्ति भी कहते हैं । परमात्मा की दृढ़, एकनिष्ठ भक्ति इस संसार अर्थात्, इस नामरूप के निरर्थक छायाचित्र में आसक्त न रहने से ही प्राप्त हो सकती है ; आत्म-ज्ञान केवल तभी मिल सकता है ।

त्याग की प्राप्ति का साधन संसार है । इसलिए वह इतना मोहक है और मनुष्य इससे ठगा जाता है । सच्चा वेदान्ती वही है जो संसार को मोह और भ्रम के जंजाल से निकलने का साधन समझता है ।

साधारणतया 'ऊर्ध्व' शब्द का अर्थ ऊँचा, 'ऊपर' आदि है । यदि तुम संसार को वृक्ष समझो तो उसकी जड़ ब्रह्म में हैं, यानी जड़ें ऊपर हैं और शाखायें नीचे हैं ! इसे कृष्ण ने अर्जुन को इस प्रकार बताया, "संसार या जीवन रूपी वृक्ष बहुत विचित्र है और संसार के वृक्षों से भिन्न है । संसार में जो वृक्ष हैं उनकी शाखायें ऊपर और जड़ें नीचे हैं किन्तु संसाररूपी अश्वत्थ वृक्ष की जड़ें ऊपर और शाखायें नीचे हैं । यह वृक्ष उल्टा खड़ा है ।

अर्जुन ने बीच में ही पूछा, "इसका नाम अश्वत्थ कैसे पड़ा । इसका अर्थ वट वृक्ष है न ? जीवन रूपी वृक्ष को ऐसा नाम क्यों दिया गया ? इसे कोई अन्य नाम क्यों नहीं दिया गया ?" अनोखे वृक्ष का यह अनोखा नाम है "सुनो अश्वत्थ का अर्थ है अनित्य, क्षणभंगुर; इसका दूसरा अर्थ वट वृक्ष भी है । इसके फूल न तो सुगन्ध युक्त होते हैं और न इसके फल खाने योग्य । फिर भी हवा में इसके पत्ते निरन्तर काँपते रहते हैं । इसलिए इसे 'चलदल' भी कहा जाता है । संसार की सब

वस्तुयें भी हमेशा कम्पायमान, अस्थिर और परिवर्तनशील होती हैं । इस सत्य को समझाने एवं इसे पाने के लिए इसे 'अश्वत्थ' कहा है ।"

इस विवेचन उद्देश्य ब्रह्म में दृढ़ विश्वास और उत्कृष्ट दृष्टि विकसित करना है । दो प्रकार के परीक्षणों द्वारा वस्तु-जगत् के यथार्थ को समझा जा सकता है : बाह्य और आन्तरिक । एक विचार बन्धनकारी है, दूसरा मुक्त करता है । जो संसार को संसार ही देखता है वह भूल करता है; जो इसे परमात्मा देखता है वह सही विचार रखता है । संसार परिणाम है; यह कारण से उत्पन्न है; कारण से यह अलग नहीं हो सकता । ब्रह्म जिसमें यह प्रतिष्ठित है उसका यह परिवर्तित स्वरूप है । करोड़ों प्राणी शाखाएं, टहनी और पत्ते जैसे हैं, बीज ब्रह्म है जिसमें पूर्ण वृक्ष सूक्ष्म रूप में समाया हुआ है । जो इसे जान गया वह वेदों के ज्ञान को भी जान गया समझो ।

पच्चीसवाँ अध्याय

"कृष्ण ! आप कहते हैं कि जो संसार को केवल संसार ही समझते हैं, उन्हें वेद-ज्ञान नहीं प्राप्त हो सकता । उन्हें तो संसार को परमात्मा-स्वरूप ही जानना पड़ेगा । संसार एक परिणाम है इसलिए वह कारण से भिन्न नहीं हो सकता है ? यह दीखने वाला जगत् विकास और क्षय के आधीन है । इसके विपरीत परमात्मा नित्य, सत्य और अपरिवर्तनशील है, पानी और अग्नि में मेल नहीं हो सकता है, ठीक है न ? तब इन दोनों में एकरूपता कैसे हो सकती है ? कृपया समझाइए । आप की बातें सुनकर मुझे अत्यधिक आनन्द होगा"--अर्जुन बोला ।

"अर्जुन ! इस ज्ञातव्य जगत् में प्रत्येक वस्तु अपने लाक्षणिक गुण बताती है । गुण उसके स्वामी के आधीन होते हैं । संसार की प्रत्येक वस्तु और प्राणी के गुणों का एक आधार है । एक आधार आत्मा ही है । अपरिवर्तनशील आधार

पर ही अपना ध्यान दृढ़ करो--अस्थिर अभिव्यक्ति पर नहीं । नहीं तो तुम अस्थिरता में तड़फड़ाते रहोगे । जिस तरह बीज, वृक्ष के तने, शाखाएं, डाली, टहनी, पत्ते और फूल का आधार है, उसी प्रकार प्रकृति या संसार का प्रपंच आत्मा से उत्पन्न होता है । प्रपंच आधार रूपी आत्मा में निहित पाँच तत्वों का क्रमचय और संचय है । आत्मा का विचार करो, जो एक आवश्यक आधार है, और इसी की अभिव्यक्ति रूप यह प्रत्यक्ष संसार है । निश्चल अभ्यास द्वारा जिसने इस सत्य को समझ लिया है, वही वेदविद् है यानी उसने वेदों पर प्रभुत्व प्राप्त किया और वही ऐसा नाम पाने योग्य है ।

लेकिन बिना गहन विवेचन के, बिना सत्य या असत्य का अन्तर समझे, यदि कोई केवल दृश्य को ही नित्य समझने की भूल करे और विवाद करे तो वह मार्ग भूल रहा है । अपने लक्ष्य पर वह कैसे पहुँच सकता है ? उसे सत्य कैसे प्राप्त होगा ? इस यथार्थ को जानने की उत्कंठा 'दैवी सम्पत्ति' अर्थात् देवत्व की ओर ले जाने वाली प्रवृत्ति द्वारा प्राप्त होती है । आसुरी सम्पत्ति विपरीत प्रवृत्ति है जो अज्ञानी मनुष्य से कुतर्क करवाती है कि वह सब जानता है । उसे ज्ञान के सब प्रयत्नों से दूर रखती है और असत्य को सत्य रूप में स्थापित करने के लिए प्रेरित करती है ।"

जैसे ही कृष्ण ने यह वाक्य समाप्त किया, अर्जुन ने विस्मय से सिर उठा कर पूछा--गोपाल ! अब तक तो तुम यह सूचित कर रहे थे कि आत्मा सब गुणों और प्राणियों का आधार है । इससे यह प्रगट होता है कि आप ही यह आधार हैं । इतने में ही आपने दो भिन्न स्वभाव की, दैवी सम्पत्ति और आसुरी सम्पत्ति के विषय में कहना शुरू कर दिया । मैं तो भ्रम में पड़ गया हूँ । समझ में नहीं आता कि किसे स्वीकार करूँ और किसे अस्वीकार " ।

"अर्जुन ! तुम्हारा प्रश्न और भी विचित्र है । तुम कहते हो कि मैं कभी निरर्थक शब्द नहीं बोलता या अनावश्यक कार्य नहीं करता । फिर भी तुम इस समस्या से चिंतित होते हो कि मेरे किस कथन को सवीकार करो और किसे अस्वीकार ! तुम्हारी यह दुविधा और चिन्ता व्यर्थ है । मेरे प्रिय बन्धुवर ! देव और असुर ऐसे दो भिन्न वर्ग नहीं हैं । ये दो भिन्न गुण ही हैं जो ऐसे विभाजन का आधार हैं । खैर, यह गुण भी कृत्रिम हैं । जैसे कि मैं पहले कह चुका हूँ, उनमें चेतनत्व नहीं है । कुम्हार

बर्तन, घड़े आदि बनाता है, लेकिन वे मिट्टी नहीं जिनसे वे बने हैं; वे मिट्टी के बने कृत्रिम रूप हैं, उनके नाम भी कृत्रिम हैं । इन नाम और रूपों को गुण कहा जाता है । मिट्टी आधार है; स्वरूप जो है वह नाम-रूप, दिखावट, बनावट, घड़े, ढक्कन व रिकाबी हैं । मिट्टी प्राकृतिक है; घड़े, ढक्कन, रिकाबी कृत्रिम हैं । मिट्टी आधार है; सहज है, मेरा स्वरूप है, सत्य है । नाम, स्वरूप, बनावट, घड़े इत्यादि मुझ में, परमात्मा में नहीं हैं, किन्तु मैं उनमें हूँ । गुण मुझ में नहीं, मैं गुणों में हूँ, यह ध्यान में रखो । और इसलिए मिट्टी और घड़े दोनों को भिन्न सत्ता मान कर अलग करने का प्रयत्न मत करो; ऐसा अनुचित ही नहीं असंभव भी है ।"

"कृष्ण ! मुझे बताइये कि आपके स्वभाव (सत्य, वास्तविकता) व स्वरूप और प्रकृति या बाह्य-जगत् में क्या आपसी सम्बन्ध है ?'

"मैं तुम्हें पहले ही बता चुका हूँ कि, यह पंचतत्व पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश मेरा ही स्वभाव, मेरे ही गुण हैं ।

इस बाह्य-जगत् को तुम इन पंचतत्वों की एकात्मकता के सिवाय अन्य और क्या कह सकते हो ?

"अर्जुन ! इन पाँचों के बिना इस जगत् में कुछ रह नहीं सकता, है न ? तब मैं इनका महत्व कैसे अस्वीकार कर सकता हूँ, अस्तित्व इनसे ही बँधा है । जब तुम पंचतत्वों के महत्व को स्वीकार करते हो तो प्रत्येक तत्व की पाँच गुनी वृद्धि अर्थात् २५ तत्वों को भी तुम्हें स्वीकृत करना पड़ेगा । केवल चार तत्व, पृथ्वी, जल अग्नि और वायु प्रत्यक्ष दीखते हैं; किन्तु आकाश सबका आधार-रूप है । इसी प्रकार मानस, बुद्धि, चित्त, अहंकार यह अनुभव द्वारा जाने जाते हैं, किन्तु अंत:करण जो कि इनका आधार है, उनका केवल अनुमान ही किया जा सकता है । वे सब वस्तुयें जिनकी हमें चेतना हैं, वे एक उसी वस्तु की अभिव्यक्तियाँ हैं जिस वस्तु का हमें ज्ञान नहीं है । सब वस्तुओं को शक्ति और सहारा इस अदृश्य वस्तु से ही मिलता है । यह अदृश्य आधार जिसका तुम्हें ज्ञान नहीं है वह आत्मा, स्वयं मैं ही हूँ, मैं सबका आधार हूँ ।

आधेय परिवर्तनशील है; वह वृद्धि, क्षय और परिवर्तन के आधीन है । किन्तु इसलिए आधार को भी परिवर्तनशील नहीं कहना चाहिए । उदाहरण के लिए पानी में प्रतिबिंबित चन्द्र पर विचार करो । चन्द्र छाया पानी में निश्चल नहीं रहती, वह

अस्थिर रहती है, काँपती है, लेकिन यथार्थ में पानी ही हिलता है और काँपता है, आकाश का चन्द्र नहीं । अज्ञानी लोग बच्चों की तरह अनुमान लगाते हैं कि चन्द्र हिल रहा है । आधेय की विशिष्टता को आधार पर थोपना ही प्रधान आसुरी लक्षण है । आधेय रूप में भी आधार की नित्यता और सत्य को पहचान लेना ही सच्ची दैवी संपत्ति है, धार्मिक वृत्ति है ।

अर्जुन ने यह सब उत्सुकता और ध्यानपूर्वक सुना और फिर पूछा-- "माधव ! आप कहते हैं कि इन दोनों की भिन्नता का कारण इनके अन्तरवर्ती गुण हैं । कृप्या स्पष्ट समझाइये कि कौन से गुण आसुरी और कौन से दैवी हैं ।"

कृष्ण ने उत्तर दिया, "अर्जुन ! स्पष्टता के लिए मैं सदैव तैयार हूँ, केवल निष्ठा और निश्चलता से सुनने वाले चाहिएँ । इसे ध्यान से सुनो : (१) निर्भयता, (२) शुद्ध भाव, (३) सृष्टि की एकात्मकता की चेतना, (४) दान, (५) इन्द्रियनिग्रह, (६) त्याग, (७) अध्ययन, (८) संन्यास, (९) निष्कपटता, (१०) अहिंसा, (११) सच्चाई, (१२) स्थिरचित्तता, क्रोध व घृणा का अभाव, (१३) विरक्ति (१४) आंतरिक शांति (१५) दूसरों की निंदा न करना, (१६) सहानुभूति, (१७) निर्लोभ वृत्ति, (१८) मधुर वाणी (१९) अधार्मिक कार्यों से विरक्ति, (२०) मन का नियंत्रण, (२१) विपत्ति के समय धैर्य, साहस और सहनशक्ति रखना, (२२) दृढ़ता, (२३) स्वच्छता, (२४) निर्दोषता (२५) विनम्रता । यह २५ पवित्र गुण दैवी संपत् हैं ।

मनुष्य में घमड, आडम्बर, मिथ्या अहंकार, क्रोध, कठोरता और विवेकबुद्धि-विहीनता का होना, आसुरी संपत्ति है । जिनमें यह प्रवृत्तियाँ हैं, वह आसुरी संपत् से भरपूर हैं । उनकी बाहरी दिखावट तो मनुष्यता है लेकिन वे इस नाम की योग्यता नहीं रखते हैं । पहले बताए गुणवाले लोगों में दैवी अंश है । जिनमें आसुरी लक्षण हैं, वे दानव-मानव, कहलाते हैं ।

कुछ लोग अपने को आंशिक-दिव्य मानते हैं । लेकिन ऐसे नाम-निर्धारण के लिए उनमें सभी आवश्यक गुण हैं क्या ? और कुछ नहीं, तो कम से कम उनमें दया, धर्म, परोपकार और शांति तो है ? उनमें इतना भी कम परिमाण में ही सही, उन्हें दैवी कहलवा सकता है । इसके स्थान पर यदि उनमें आसुरिक सामग्री से भरा-पुरा तोपखाना प्रत्यक्ष दीखे तो उनके इस नाम मात्र मूल्य की घोषण को कौन

मानेगा ? ऐसे व्यक्ति यदि दिव्य होने का दावा करें तो झूठा अभिमान ही माना जायेगा । मिथ्या दंभ और आडम्बर कभी भी दिव्य नहीं कहे जाते हैं । वे तो निश्चय ही आसुरी गुण हैं । अपनी सूक्ष्म परीक्षा द्वारा प्रत्येक यह निश्चित कर सकता है कि वह किस वर्ग का है ।

शारीरिक दिखावट, सम्पत्ति, सामाजिक स्थिति या अधिकार द्वारा यह वर्ग निश्चित नहीं होता । उदाहरण के लिए रावण को लो । रूप मनुष्य का था और वह एक ऐसा सम्राट् था जो धन के अधीश्वर कुबेर से भी श्रेष्ठ माना जाता था । किन्तु क्या इस कारण वह दैवी अंश वाला समझा जायेगा ? नहीं । उसके गुणों के आधार पर उसे असुर ही घोषित किया गया है ।

तीन मुख्य गुण सब आसुरी स्वभाव के आधार माने जाते हैं । वे हैं काम, क्रोध और लोभ, वे आत्म-चेतन्य को नष्ट कर, मनुष्य में आसुरी भाव का पोषण करते हैं । उन्हें तो वैराग्य, शान्ति और त्याग के दिव्य गुणों द्वारा घेर कर, पराजित करना चाहिए । इस युद्ध में इन्हीं योद्धाओं पर विश्वास रखना चाहिए । इन्हीं का पोषण करो, वे क्षण भर में आसुरी शक्तिवाली सेना के सभी प्रभाव को पूर्णरूप से नष्ट कर देंगे । क्योंकि काम, क्रोध, लोभ जैसे शत्रु का कोई एक भी अंश बिना कुचले रह जाने से खतरा रहेगा । इसलिए उन्हें जलाकर राख ही बना देना चाहिए । लक्ष्यप्राप्ति के संघर्ष में सफलता पाने का यही मार्ग है ।

जीवन वृक्ष की जड़, कामना और मोह है । जड़ को काट कर पृथक् कर देने से वृक्ष कट जाता है । शीघ्रता और सफलता से काट कर अलग करने पर ही उसके नष्ट होने की गति निर्भर है । एक जड़ के भी रह जाने से पुनः अंकुर निकलते रहेंगे, न वह सूखेगा, न नष्ट होगा । सभी जड़ों को हटा देने से वृक्ष नष्ट होकर सूख जायेगा । मनुष्यों का यह घमंड, कि उन्होंने सब जड़ें नष्ट कर दी हैं, बेकार है, यदि वृक्ष हरा होकर फिर बढ़ने लगा हो । इसी प्रकार जीव को बाँधने वाली माया उतने ही अनुपात में नष्ट होगी जितनी मात्रा में उसे बाँधने वाली कामनायें जड़ से नष्ट होंगी ।

कुछ लोग अल्प मात्रा में ही, लालसाओंऔर कामनाओं को कम कर ध्यान करने बैठ जाते हैं । लेकिन उनका पूर्ण ध्यान नहीं लगता । पूर्ण एकाग्रता नहीं प्राप्त होती है और न ही उन्हें अनियंत्रित क्षोभ डाँवाडोल करते हैं । वह मध्य स्तर

पर ही अटके रहते हैं । ऐसी स्थिति का कारण क्या है ? पूर्ण एकाग्रता तो कामना पर पूर्ण नियंत्रण होने से ही प्राप्त होती है । इसीलिए सूचित किया गया है कि काम, क्रोध, लोभ ही भयावनी कुरूप आकृति वाले पिशाच हैं, जो मनुष्य को तंग करते रहते हैं ।

लेकिन कुरूप होना या डरावनी आकृति का होना कोई संकट की बात नहीं है । बुरा से बुरा यही होगा कि उसे "घृणित" कहा जायेगा । घृणित चरित्र व दुष्ट स्वभाव ही संकट के चिन्ह हैं । अगर कोई व्यक्ति देखने में सुन्दर हो, और जिसकी वाणी तोते की तरह, सुनने में मीठी लगे, तब भी केवल इन कारणों से, उसे दैवी गुण सम्पन्न या दैवी अंशयुक्त जन्मा नहीं कहा जायेगा । यदि उनमें आसुरी स्वभाव सनसना रहा हो तो शारीरिक सुन्दरता और मधुरवाणी उन्हें दिव्यता का नाम नहीं दे सकती । उनके मुंह से निकले शब्द हथौड़े की चोट और छुरे के प्रहार से भी अधिक क्रूर होते हैं । इस प्रकार आसुरी सम्पत्ति व्यक्ति के गुणों से, उसके आचरण से सम्बन्धित है, शारीरिक बनावट और सौन्दर्य से नहीं ।

छब्बीसवाँ अध्याय

"कृष्ण ! आपका कहना है कि मनुष्य के दैवी और आसुरी स्वभाव उनके पूर्वजन्मों के कर्म और प्रवृत्तियों के प्रभावों का परिणाम हैं । चूंकि इन प्रभावों से बचना असम्भव है, उनका क्या होता है जिन्हें ऐसे परिणामों का बोझा ढोने का दण्ड मिला है ? इससे बचने का कोई उपाय है ? क्या इस बोझ को घटाया जा सकता है ? यदि ऐसा हो सकता है, तो कृपया मुझे बताइये जिससे मैं अपनी रक्षा कर सकूँ !" मानवमात्र को बचाने का उपाय भगवान् से प्राप्त करने के लिए, अर्जुन ने इस प्रकार पूछा ।

कृष्ण ने तुरन्त उत्तर दिया, "उपायों की कोई कमी नहीं है । सुनो । तीन प्रकार के गुण हैं, सात्विक, राजसिक और तामसिक । उनका आधार अंतःकरण,

आंतरिक चेतना है । अंतःकरण आहार पर निर्भर है, तुम जैसा अन्न खाओगे वैसा ही बनोगे; जैसे कार्य करोगे वैसा ही स्वभाव बनेगा । इसलिए कम से कम इस मनुष्य जीवन में भोजन और कार्य (आहार और विहार) को व्यवस्थित रखकर तुम आसुरी प्रवृत्तियोंके प्रभाव में पड़ने से बच सकते हो "। व्यवस्थित आत्म-प्रयास द्वारा तुम सात्विक प्रवृत्तियों को बढ़ा सकते हो । बड़े प्रेम से भगवान् ने अर्जुन के आतुरतापूर्ण प्रश्नों का उत्तर दिया ।

अर्जुन ने जब सुना कि मनुष्य के लिए बचने के उपाय हैं, वह हर्ष से भर गया, और भी अधिक जानने की उसे उत्सुकता हुई । प्रसन्नतापूर्वक मोहक मुस्कान द्वारा कृपा बरसा कर कृष्ण ने उत्तर दिया, "अर्जुन ! मुख्य पोषण-शक्ति आहार से मिलती है । दूषित मन नैतिक श्रेष्ठता को मलिन कर देता है; कीचड़-भरे तालाब में परछाई स्पष्ट कैसे दीख सकती है ? एक दुष्ट या दुराचारी के मन में दिव्यता कभी भी झलक नहीं सकती । आहार द्वारा मनुष्य के शरीर को शक्ति मिलती है । शरीर का मन से अंतरंग सम्बन्ध है । मनोबल का आधार शारीरिक शक्ति भी है । धर्मानुकूल आचरण, शुभ वृत्तियाँ, आध्यात्मिक प्रयत्न--सब उपयुक्त आहार पर निर्भर हैं; बीमारी, मानसिक दुर्बलता, आध्यात्मिक त्रुटियाँ, इन सबका कारण अनुपयुक्त आहार है ।" अर्जुन ने फिर पूछा, "कृष्ण ! सात्विक, राजसिक और तामसिक आहार क्या है ?"

"अर्जुन ! सात्विक आहार में मन और शरीर, दोनों को सशक्त करने की क्षमता होती है । अत्यन्त नमकीन, अति तीखा, अति चटपटा, अति मीठा, अति खट्टा या अति उष्ण आहार नहीं खाना चाहिए । प्यास की आग को भड़काने वाले आहार से भी बचना है । यह एक साधारण सिद्धांत है । संयमित और सीमित आहार लेना चाहिए । पानी में बनाये भोजन को दूसरे दिन कभी नहीं खाना चाहिए । वह बहुत हानिकारक हो जाता है । तले हुए पदार्थ भी दुर्गन्ध आने के पूर्व ही खा लेने चाहिए । राजसिक आहार सात्विक से भिन्न है । यह आहार अत्यन्त खारी, अत्यन्त मीठा, अति उष्ण, अत्यन्त खट्टा, अत्यन्त दुर्गंधमय होने से उत्तेजक और मादक होता है ।'

"भगवन्, मेरी अशिष्टता हो तो क्षमा करें, क्योंकि मैं केवल जानने की इच्छा से प्रश्न करता हूँ । क्या केवल आहार-संबंधी स्वभाव बदल लेने से ही मनुष्य का

एक गुण दूसरे में परिवर्तित हो सकता है ? या ऐसी शुद्धि के लिए अन्य कुछ और भी करना होता है । यदि ऐसा है तो मुझ बताइये ।"

"प्रिय बंधुवर ! चरित्र परिवर्तन करना यदि इतना सरल होता तो, दुष्टता और दुराचार जो कि आसुरी स्वभाव के लक्षण हैं, पृथ्वी पर से बहुत पहले ही मिटा दिये जाते । निःसंदेह, इसके लिए कुछ और भी करना पड़ता है । वह सुनो । तीन प्रकार की 'शुद्धि' माननी पड़ती है : सामग्री की शुद्धता, खाना पकाने के बर्तनों की शुद्धता और भोजन परोसने वाले की शुद्धता । खाद्य सामग्री की शुद्धता और उत्तमता ही पर्याप्त नहीं है, उनकी प्राप्ति के उपायों का भी विशुद्ध होना आवश्यक है । अन्यायपूर्ण, अशुद्ध और बेईमानी की कमाई का उपयोग अपने निर्वाह के लिए कभी नहीं करना चाहिए । क्योंकि वे अपने उद्गम स्थान से ही अशुद्ध होते हैं । स्रोत, पथ और लक्ष्य यह सब समान ही शुद्ध होने चाहिए । पात्र स्वच्छ व दोषरहित होना चाहिए । परोसने वाले व्यक्ति के वस्त्र की स्वच्छता ही नहीं उसकी प्रवृत्तियाँ, कृत्य और आचरण का शुद्ध रहना भी आवश्यक है । भोजन परोसते समय उसमें घृणा, क्रोध, चिन्ता या लापरवाही न होकर, प्रसन्नता और स्वस्थता होनी चाहिए । व्यवहार भी नम्र और प्रेमपूर्ण रहना चाहिए । भोजन करने वालों की सेवा करते समय दुष्ट या पापपूर्ण विचारों पर परोसने वालों का मन नहीं रहना चाहिए । बुरे विचार और स्वभाव की क्षतिपूर्ति स्वच्छ या आकर्षक शरीर द्वारा पूरी नहीं की जा सकती । ध्यान में एकाग्रता लाने की इच्छा वाले साधकों को इन निषेधों का सावधानीपूर्वक पालन करना है; अन्यथा रसोई बनाने वाले और परोसने वालों के दुष्टतापूर्ण विचारों का सूक्ष्म प्रभाव साधक का ध्यान करते समय पीछा करेंगे । चारों ओर केवल सदाचारी व्यक्तियों से ही संपर्क रहे इसका ध्यान रखना चाहिए । बाह्य आकर्षण, व्यावसायिक निपुणता, व कम वेतन के लोभ में आकर तुम्हें भयंकर रसोइयों और सेवकों के प्रति पक्षपात नहीं दिखाना चाहिए । पहले सावधानीपूर्वक उनके स्वभाव और व्यवहार की परीक्षा करो । जो अन्न तुम खाते हो वह तुम्हारे शरीरिक और मानसिक उपकरणों का बहुत आवश्यक अंश है जिसके द्वारा तुम मन की पवित्रता की कमी, शरीर और वाणी की पवित्रता, जोकि शरीर की महत्वपूर्ण क्रिया है, उसके द्वारा पूरी की जानी चाहिए । यही सच्ची मानसिक, शारीरिक और वाचिक तपस्या है ।

मन को, व्यग्रता, चिन्ता, तिरस्कार, घृणा, लालच और अहंकार से मुक्त रख, मानवमात्र के प्रति प्रेमभाव से भर देना चाहिए । उसे परमात्मा के चिंतन में ही लीन रहना है । बाह्य सुखों का पीछा करने से इसे रोकना होगा; किसी भी प्रकार के नीच विचार मन में आने न देकर, व्यक्ति को ऊँचे स्तर पर ले जाने के ही सब विचार लगाने चाहिए । मन के लिए यही उचित है ।

अब शारीरिक तप को लो । अपने शरीर और सामर्थ्य को दूसरों की सेवा, परमात्मा की उपासना, उनकी महिमा गाने में, उनके नाम से पवित्र किए गये तीर्थ करने में, नियमित प्राणायाम में लगाकर इन्द्रियों को विषैले मार्ग पर से हटाकर परमात्मा के मार्ग पर ले जाना चाहिए ।

मित-भाषण; मिथ्या कथन और परनिन्दा न करना; कठोर वाणी का न बोलना यह वाचिक तपस्या भी आवश्यक है । मधुर और मीठी वाणी से मन मन में माधव को स्मरण करो ।

शारीरिक, मानसिक और वाचिक इन तीनों तपस्याओं में से यदि एक भी कम हो जाये तो आत्म-ज्योति प्रकाश नहीं दे सकेगी । दीपक, वर्तिका और तेल तीनों ही प्रकाश के लिए आवश्यक हैं । शरीर दीपक है, मन तेल है और जिह्वा वर्तिका है; उन तीनों की उपयुक्त व्यवस्था रहनी चाहिए ।

कुछ धर्मात्मा लोग दान को भी शारीरिक तप समझते हैं । सोचने वालों का विचार उत्तम हैं, लेकिन दान करते समय स्थान, काल और पात्रता का ध्यान रखकर दान करना चाहिए । उदाहरण के लिए जहाँ स्कूल नहीं वहाँ स्कूल बनने हेतु दान देना, जहाँ बीमारी फैली हुई है वहाँ अस्पताल बनवाने चाहिए, बाढ़ और अकाल पड़ने पर लोगों की भूख शान्त करनी चाहिए । धर्म या ब्रह्म-विद्या की शिक्षा देते समय या अन्य प्रकार की सेवा करते समय पात्र के स्वभाव और गुण का ध्यान रखना चाहिए । व्यक्ति की उन्नति में बाधक त्रुटियों को हटाने वाले कार्य को सात्विक-दान कहते हैं ।

बीच में ही रोककर अर्जुन ने कहा, "कृष्ण ! क्या मैं एक प्रश्न पूछ सकता हूँ ? कैसे भी किया हो, दान तो दान ही रहता है, ठीक है न ? फिर इसमेंभी सात्विक, राजसिक और तामसिक का भेद क्यों रखा जाता है ? क्या ऐसा विभाजन आवश्यक है ? वास्तव में ऐसा भेद है भी ?"

कृष्ण ने उत्तर में कहा, "अवश्य है । इन सब में कार्य करने का कारण यशःप्राप्ति होता है । बहुत से लोग प्रसिद्धि या बदले में कुछ पाने की उत्कंठा से दान करते हैं । बहुत कम ऐसे हैं जो केवल भगवान् का अनुग्रह चाहते हैं; अन्य कुछ नहीं । भगवान् का केवल अनुग्रह पाने की इच्छा से किया गया दान सात्विक दान है । यश और विज्ञापन, लोकप्रियता और सत्ता, रोष या दबाव में आकर इच्छा न होते हुए दान करना राजसिक दान है" ।

"आदर और श्रद्धापूर्वक दान करना चाहिए । पात्र के मुँह पर फेंककर या अयोग्य को, या जो असामयिक हो, ऐसा दान नहीं करना चाहिए । जिसका पेट भरा है ऐसे को खिलाना बोझ है, उपहार नहीं । जहाँ पहुँचना भी कठिन हो ऐसी जगह अस्पताल बनवाना दान को व्यर्थ फेंकने के बराबर है । ऐसे निरर्थक दान को तामसिक कहते हैं ।"

"दान करने वाले व्यक्ति को बहुत सावधान रहना पड़ता है । प्रत्येक माँगने वाले को दान नहीं देना चाहिए, और न प्रत्येक जगह इसकी वर्षा करना चाहिए । मेरे बताये हुए इन तीनों प्रकार के दान को सावधानी पूर्वक याद रखकर जो उचित लगे वही करना चाहिए । दान में दी जाने वाली वस्तुएँ आडम्बर या प्रसिद्धि के लिए न होकर उद्देश्यपरक और उपयोगी होनी चाहिए । सब कार्यों में सात्विक भावना श्रेष्ठ है, ऐसी ही भावना देखी, सुनी या कही गई प्रत्येक वस्तु में भर जानी चाहिये ।

अर्जुन सिर झुका कर, बड़े ध्यान से भगवान् के चेहरे की मधुरता को देखते हुए सुन रहा था, बोला, "भगवन् ! सत्य श्रवण और सत्य दर्शन यथार्थ में क्या है ? कृपया मुझे कुछ विस्तारपूर्वक बताइये, जिससे मैं आपकी शिक्षा को समझ सकूँ ।" उसकी इतनी विनम्र प्रार्थना सुनकर कृष्ण बहुत प्रसन्न हुए ।

उन्होंने अर्जुन की पीठ थपथपाई और कहा, "भगवान् को प्राप्त करने के जो आकांक्षी थे व जिन्होंने आत्म-साक्षात्कार कर लिया है ऐसे साधु, संतों की कहानियाँ, अनुभव और संदेशों का श्रवण, सात्विक श्रवण है । सात्विक-दर्शन यानी भगवान् के भक्त व साधु सन्तों के चित्रों को देखना । मन्दिर में त्यौहारों पर जाना इत्यादि है । राजसिक दर्शन अर्थात वैभव के दृश्य, इन्द्रिय-सुख-विष-यक चित्रों को देखना, शक्ति और सत्ता का आडम्बरपूर्ण तड़क-भड़क और प्रभाव के

अहकारपूर्ण प्रदर्शन में रुचि रखना है । इन्द्रियजनित सुख के वर्णन और घटनाओं में शक्ति और अधिकार के प्रदर्शन करना, बल और पराक्रम की स्थापना में आनन्द लेना राजसिक श्रवण कहलाया जाता है । अन्य लोग जो कि भीषण साहस, दुष्टतापूर्ण आसुरी प्रवृत्तियों और पापपूर्ण कार्यों की बातें सुनने में आनन्द लेते हैं, वे तामसिक व्यक्ति कहे जाते हैं । ऐसे लोग क्रूर और भयानक चालबाजियो के प्रशंसक होते हैं, और ऐसे ही चित्रों को देखने में आनन्द लेते हैं । खून के प्यासे आसुरी देवों की वे पूजा करते हैं वे भूत और पैशाचिक शक्ति की कथायें सुनकर प्रसन्न होते हैं ।"

प्रिय पाठक ! भगवद्गीता के उपदेश का यह हृदय है । इसमें शरीर और जीवन आ आधार और पोषक अन्न है । इसलिए अन्न ही उच्च या निम्न स्तर की प्राप्ति निश्चित करता है । आजकल प्रातराश का उल्लेख किये बिना ही अनुशासन और निष्ठा को महत्व दिया जाता है । कितना भी महान् व्यक्ति हो, ज्ञानी हो, वेदात के उपदेश का ध्यान रखता हो, उनके प्रचार के लिए तत्पर रहता हो लेकिन यदि वह शरीर और उसकी कार्य-शक्ति के मुख्य आधार आहार के लिए निर्दिष्ट कठोर नियमों की उपेक्षा करता है, तो वह सफल नहीं हो सकता । भोजन सामग्री, भोजन बनाने वाले और उसे परोसने वाले की शुद्धता पर ध्यान नहीं है । पेट भर भोजन कर, भूख शान्त होने पर वे संतुष्ट हो जाते हैं । प्रभात होते ही, प्रथम मन्दिर, जहाँ आत्माराम प्रवेश करता हैं वह 'इडली' और सांभरम् का भोजनगृह होता है । ऐसे पेटू लोगों का एकाग्रतापूर्वक ध्यान कैसे जम सकता है ? शुद्ध भोजन, शुद्ध सामग्री और शुद्ध सेवा--भोजनालयों में कैसे मिल सकते हैं ? लेकिन इसकी परवाह कौन करता है ? इसका विचार किये बिना लोग उच्चस्वर से शिकायत करते हैं कि उनको ध्यान में सफलता नहीं मिलती फिर वे और अधिक उलझन में पड़ जाते हैं, असर तो तभी पड़ेगा जबकि सही कारण द्वारा सही कार्य सम्पन्न हो । कडुवाहट से मीठी वस्तु कैसे मिल सकती है ? कडुवी चीज पकाने से मीठा पकवान नहीं मिल सकता ।

आहार और विहार के नियम को गीता में बड़ी सावधानीपूर्वक व्यवस्थित क्रम दिया है । लेकिन इस शिक्षा पर बहुत कम ध्यान दिया जाता है और न इसे इतना आवश्यक समझा जाता है । हर जगह ऐसे लोग हैं जो गीता की सौगन्ध खाते

हैं । इसकी घण्टों व्याख्या और प्रचार करते हैं । लेकिन ऐसे बहुत कम हैं जो इसके उपदेश को आचरण में उतारते हैं । अनेकों श्लोक उनके दिमाग में भरे होते हैं लेकिन आपत्ति आने पर वे पराभव का सामना दार्शनिक सौमनस्यता से नहीं कर पाते । आहार और विहार की शुद्धता और पवित्रता होने से ही आनन्द और शान्ति मिल सकती है ।

अन्धकार और प्रकाश दोनों एक साथ नहीं रह सकते; काम और राम एक साथ एक ही जगह पर नहीं रह सकते; वे दोनों अग्नि और जल की तरह हैं । यदि एक हाथ में गीता हो और दूसरे में गर्म चाय या सुलगती सिगरेट या बीड़ी या चुटकी भर सुँघनी ही हो, तो उसकी बुरी प्रतिक्रिया से कोई कैसे बच सकता है ? कुछ लोग अपने अनियमित जीवन का औचित्य यह घोषित करते हैं कि, जो भी खाया, कैसे भी खाया, कहीं भी खाया, उनकी प्रचंड आन्तरिक ज्ञानाग्नि से सब शुद्ध और स्वीकार हो जाता है ।

क्रमानुसार अनेकों पवित्र नदियों में डुबोने से भी एक कड़ुवा फल, मीठे फल में कैसे परिवर्तित हो सकता है ? गीता पर प्रवचन मात्र करने से कोई उसके उपदेश की मधुरता से कैसे तर सकता है ? वास्तव में होता यह है कि इसकी कपटपूर्ण बातों को सुनकर लोगों का जो कुछ थोड़ा विश्वास हमारे धर्मग्रंथों में होता है वह भी मिटता जा रहा है और वे कट्टर नास्तिक बनते जाते हैं । जो व्यक्ति अपने आहार को सयमित और नियमित नहीं बना सकता वह कैसे अपनी इन्द्रियों को संयमित और व्यवस्थित रख सकेगा ? इसका कैसे विश्वास किया जाये ? जो भोजन को सीमित और नियन्त्रित रख सकता है वह इन्द्रियों को नियन्त्रित और व्यवस्थित रख सकेगा । वह नाक जो एक छींक आते ही गिर जाती है क्या खाँसी आने पर बच सकेगी ? जिससे सीढ़ियाँ नहीं चढ़ी जातीं वह स्वर्ग की उँचाई कैसे प्राप्त कर सकता है ? जो व्यक्ति कॉफी, सिगरेट या सुँघनी का लाचार शिकार है वह इतने अधिक शक्तिशाली दुश्मन क्रोध, काम और लालच को कुचल डालने की क्षमता और शक्ति कहाँ से पा सकता है ? जो इस कचरे को नहीं त्याग सकता वह कामनात्याग कैसे कर सकता है ? जीभ को नियन्त्रण में रखो तभी तुम काम पर विजय पा सकोगे । इन दोनों में नेत्र और पैर की तरह घनिष्ट पारस्परिक सम्बन्ध है ।

सत्ताइसवॉ अध्याय

स्वस्थ शरीर की कान्ति जिस प्रकार वस्त्र द्वारा ढक जाती है उसी प्रकार व्यक्ति की आत्मा, अपनी अमूल्य सम्पत्ति, अपने ब्रह्मतत्व की तेजस्विता को अहंकार के अन्धेरे से छिप जाने पर प्रकट नहीं कर पाती । अहंकार सब पापों, सब दुर्गुणों, सब त्रुटियों की जड़ है । इसका जन्म इच्छा से हुआ है, इसलिए अहंकार से भी मुक्त हो जाओ ।

कामनारहित स्थिति वास्तव में अहंकारहीन स्थिति ही है । मुक्ति अहंकार के बन्धन से छुटकारे के सिवाय और क्या है ? इच्छा के बन्धन से छूट जाने पर तुम मुक्ति पाने की योग्यता पा लेते हो ।

अधिकतर लोग फलप्राप्ति द्वारा लाभ उठाने की इच्छा से प्रेरित हो कार्य करते हैं और जिन कार्यों से लाभ नहीं मिलता, ऐसे कार्यों को नहीं करते । गीता इन दोनों प्रकार के दृष्टिकोणों को अनुचित समझती है । क्योंकि फलप्राप्ति हो या न ही कार्य करने के कर्त्तव्य से कोई भी व्यक्ति छुटकारा नहीं पा सकता । मनुष्य पूर्णतया कर्म-जनित परिणामों के जाल में फॅसे बिना कैसे रह सकता है ? गीता का उपदेश है कि कर्म-फल-त्याग (कर्म के फल में आसक्ति का त्याग) इस लक्ष्य की प्राप्ति का श्रेष्ठ साधन है ।

इच्छा की हो या त्याग दी हो, आशा हो या न हो, प्रत्येक कार्य का देर सवेर, किसी न किसी परिणाम में अन्त होता ही है । कार्य का अन्त परिणाम में होना अनिवार्य है । परिणाम अच्छे भी हो सकते हैं, बुरे भी हो सकते हैं, लेकिन कार्य परमात्मा को समर्पित कर दिया हो तो इन दोनों में से किसी भी परिणाम का प्रभाव कर्ता पर नहीं पड़ेगा । समर्पण की भावना से किया हुआ कार्य श्रेष्ठ, दैवी, अलौकिक और पवित्र स्तर का हो जाता है । इसके विपरीत अहंकार से प्रेरित कार्य बन्धनकारी होंगे ।

भगवान् को जो वास्तव में प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हें इच्छा के कलंक से मुक्त हो जाना चाहिए । भगवान् की खोज और प्राप्ति के लिए उन्हें मामूकार शून्य : "मैं" और "मेरे" की भावना से मुक्त हो जाना चाहिए । तभी उन्हें मोक्ष प्राप्त हो सकेगा, जीवन के लक्ष्य की प्राप्ति यही है । इस स्थिति में न तो सुख का, न दु:ख का बोध रहता है, इन दोनों से परे और उच्चस्तर की स्थिति होती है । कृष्ण की इच्छा

थी कि उनका मित्र और भक्त अर्जुन इस अवस्था को प्राप्त करे, इसलिए उन्होंने उसे अनेक प्रकार के उपाय और साधन बताकर, उसे बचाने का प्रयत्न किया और मानव-मात्र के कल्याण के लिए उस अमूल्य उपहारप्राप्ति का उसे निमित्त बनाया ।

इस पवित्र उपदेश को समाप्त करने के पूर्व कृष्ण ने अर्जुन से कहा, "सब धर्मों को त्याग कर मेरी शरण में आओ, मैं तुम्हें सब पापों से मुक्त करूँगा । अहम् में जो अहंकार और मामकार का गर्व और 'मैं' और 'मेरा' की भावना है उसका त्याग करो । आत्मा को शरीर समझना बन्द करो क्योंकि शरीर केवल एक पिंजड़ा या बन्दीगृह ही है । यह सब सिवाय परमात्मा के अन्य और कुछ नहीं है इस पर विश्वास दृढ़ करो ! अब भगवान् की इच्छा के आगे झुकने और उनकी योजना की शरण लेने के सिवाय अन्य कुछ नहीं करना है । मनुष्य को दो कार्य : संकल्प और विकल्प यानी निश्चय और अस्वीकृति का कार्य छोड़ देना है । उसे भगवान् की आज्ञा का पालन करना है, जहाँ भी उसे रखा गया है, जैसा भी उसे बनाया गया है उसमें ही उसे प्रसन्न रहना है । फलप्राप्ति की इच्छा के बिना भगवान् को समर्पित पूजारूप समझकर वह अपने कार्य करता है और इसलिए ऐसे कार्यों के औचित्य या अनौचित्य का विवेचन करने से वह दूर रहता है, यही उसके कर्त्तव्यों का निष्कर्ष है ।

कुछ मूर्ख वेदांती मालाओं से सज-धज कर कृष्ण के इस उपदेश का लाभ उठाने के लिए, सब धर्मों को इस निश्चय से त्याग देते हैं कि परमात्मा उन्हें सब पापों से मुक्त कर देगा । तत्पश्चात् वे आलस्यवश पैर फैलाये हुए आँख मींचे सुस्त पड़े रहते हैं । वे अपने करने योग्य कर्त्तव्यों का त्याग करते हैं । और मनमाना खाते, सोते और घूमते रहते हैं । वे अच्छे और बुरे का अन्तर नहीं देखते और बहाना बनाते हैं कि परमात्मा ने उन्हें धर्म की मर्यादा के परे हो जाने की आज्ञा दी है । जब समाज के वरिष्ठ लोग और अनुभवी साधक उनके आचरण पर खेद व्यक्त करते हैं तब उनका उत्तर होता है "आह ! क्या तुम भी ऐसी गंभीर भूल कर रहे हो ? गीता में भगवान् ने जो कहा है उसे क्या तुम नहीं जानते ? मेरे आचरण का आधार तो भगवान् की यह आज्ञा है कि 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' । मुझे अपूर्ण ज्ञानियों की सलाह आवश्यक नहीं है ।" इन्हें अपनी भक्ति और लकीर की फकीरी का बहुत

गर्व होता है । भगवान् के कथन में से वे लोग केवल उन्हीं शब्दों को चुनते हैं, जिनसे उनकी प्रवृत्तियों का मतलब सिद्ध हो सके । आगे-पीछे के शब्द एक ही आज्ञा के अविभेद्य विभाग होते हुए भी, मनपसन्द न होने के कारण सहज में ही अमान्य कर दिये जाते हैं । गीता के विश्वस्त समर्थक बनते हुए भी उसके आदेशों के मुख्य अशों को नहीं मानते ।

भगवान् कहते हैं, "माम एकम् शरणम् व्रज, अर्थात् सब धर्मों को त्याग कर केवल मेरी शरण लो ।" क्या उनका ऐसा समर्पण है ? नहीं । क्या उनमें, कम से कम मोक्षप्राप्ति की, गहरी उत्कंठा है ? नहीं । क्योंकि यदि उनमें ऐसी उत्कंठा होती तो अपने करने योग्य कर्त्तव्यों को उन्होंने त्यागा न होता । भोजन और निद्रा के वे शिकार न बनते । ऐसे लोग निरर्थक बातें बनाने में ही श्रेष्ठ होते हैं; केवल तड़क-भड़क में प्रभावोत्पादक होते हैं । भगवान् के निर्देशों को वे अपने आचरण में नहीं उतारते; उनमें इसके लिए बहुत ही आलस्य होता है । आध्यात्मिक प्रयत्न का एक अणु भी उनमें नहीं दीखता । भगवान् के दिव्य वचनों का बहुमूल्य सत्य सच्चे आकांक्षी को स्पष्ट प्रत्यक्ष हो जाता है ।

सर्वधर्मान् परित्यज्य
माम् एकम् शरणम् व्रज
अहम् त्वा सर्वपापेभ्यो
मोक्षयिष्यामि मा शुचः ।

भगवान् ने क्या कहा, इस पर ध्यान दो । उन्होंने "सर्वधर्मान् परित्यज्य" कहा है, "सर्व कर्मान् परित्यज्य" नहीं कहा । इसका अर्थ क्या हुआ ? अर्थ है कि "भगवान् द्वारा निर्देशित सब कार्य, धर्म-अधर्म के तर्क में उलझे बिना, केवल भगवान् की महिमा के लिए समर्पण समझकर करने चाहिए ।

भगवान् में पूर्ण विश्वास और पूर्ण समर्पण द्वारा तुमने यह तो अब जान ही लिया कि जीवन में प्राप्ति के लिए कुछ बाकी नहीं रह जाता, फिर भी जनक और अन्य लोगों की तरह संसार के कल्याण, लोग संग्रह के लिए तुम्हें कार्य करते रहना होगा । जो आत्मा तुममें है वही सर्व-भूत-अन्तरात्मा सब में है । इसलिए सर्व-भूतहिते-रतः बनो अर्थात् सब प्राणियों की भलाई में लगे रहो । शास्त्रों और धर्मग्रंथों में बताये हुए सब कार्य, समर्पण भाव से फल की इच्छा रखे बिना करो ।

इसी को सच्चा निष्काम कर्म कहते हैं ।

गीता को अच्छी प्रकार समझ कर, इसे आचरण में उतार कर अपने को निष्काम-कर्म की अवस्था में प्रतिष्ठित कर, सब कर्त्तव्यों को पूजा-कार्य, हरि-प्रसादम् समझ कर करो । प्रधान कार्य यही है । फल, परिणाम सब भगवान् पर छोड़ दो । भगवान् का अनुग्रह तभी तुम्हें प्राप्त होगा और पृथ्वी पर तुम्हारा जीवन पवित्र बनकर महत्वपूर्ण बन जायेगा ।

अनेकों कष्टदायक बाधाओं के आने पर भी धर्ममार्ग पर चलने वालों की अन्त में विजय निश्चित ही है । अधर्म मार्ग में भटकने वाले चाहे जितने अधिक काल तक धन, ऐश और आराम भोगें, अन्त में विपत्ति उन्हें घेर ही लेगी । कौरव और पांडव दोनों इस सत्य के साक्षी हैं ।

अधर्म में रत कौरव अहंकार से इतने अंधे हो गये थे कि उन्होंने धर्म-पथ के अनुगामी पांडवों को विविध प्रकार से कष्ट पहुँचाये, किन्तु अन्त में वे ही पूर्णरूप से नष्ट हो गये । हरेक प्रकार के लोग उनकी सहायता कर रहे थे । लेकिन भगवान् की अनुग्रह-शक्ति वे प्राप्त नहीं कर सके थे, इसलिए भाग्य ने उनका साथ छोड़ दिया, वे पूर्णतया नष्ट हो गये । यहाँ के लोगों के लिए भारत का यह उपदेश है कि शक्तिशाली शस्त्रों से सुसज्जित प्रचंड सेना भी भगवान् के अनुग्रह की बराबरी नहीं कर सकती । सत्य और धर्म के गीता-भवन का निर्माण भारत की भूमि पर संसार के कल्याण के लिए हुआ है । श्रद्धा और भक्ति से इसका अध्ययन करो; इसके उपदेश को आचरण में उतार कर स्वस्थता और पौष्टिक शक्ति के प्रभाव का अनुभव करो । ऐसे व्यक्ति के लिए आत्माराम (मधुरता और परमानन्द से पूर्ण आत्मा) यथार्थ में, सर्वदा उपस्थित रहेंगे । एक क्षण में भगवान् अपने अनुग्रह की उस पर वृष्टि कर देंगे । जिसके अन्तर्गत चौदह लोक हैं उस परमात्मा की प्रार्थना करो जिससे यहाँ के सुख देने वाले बहुमूल्य वैभव तुम्हारे आधीन हो जायें । यही नहीं इससे भी अधिक वांछनीय कैवल्य (जोकि नित्यानंद, नित्य-सत्य और नित्य-ज्ञान का झरना है) प्राप्त हो सके ।

जब तुम्हारे पास नवनीत है, तो तुम घी के लिए क्यों भटकते हो ? भगवान् द्वारा स्थापित जीवन के नियमों का निष्ठापूर्वक पालन कर नवनीत प्राप्त करो अर्थात् भगवान् का अनुग्रह प्राप्त करने से व्यक्ति को मोक्ष के लिए अलग से प्रार्थना

नहीं करनी पड़ती । तुम्हें क्या मिलना चाहिए और वह कब मिलना चाहिए भगवान् इसके श्रेष्ठ निर्णायक हैं । तुम्हारी योग्यतानुसार तुम्हें लाभकारी वस्तु वे देंगे ही । भगवान् की आकांक्षा करो, उनके लिए कष्ट सहो; तब तुम्हें मोक्ष के लिए उत्कंठित होना भी आवश्यक नहीं होगा; बिना अन्य विचार के ऐसा करने से भगवान् तुम्हारे सब पाप नष्ट कर देंगे । भगवान् पर दृढ़ विश्वास रखो; वह तुम्हें अर्जुन की तरह अमरत्व प्रदान कर सकते हैं । जो भी इस जन्म मरण के चक्र से बचना चाहता है, उसे गीता में निर्देशित भगवान् की आज्ञा का श्रद्धापूर्वक पालन कर, उनकी शरण अवश्य ही लेनी होगी । तभी उसके सब कार्य सफलता का वरण करेंगे । उसे अवश्य ही विजय प्राप्त होगी ।